



भारत के प्रमुख लोकनाट्य : एक अनुशीलन

डॉ.श्वेता पंड्या

शासकीय महाविद्यालय, कायथा

उज्जैन, मध्यप्रदेश, भारत

शोध संक्षेप

भारतीय नाट्य-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग में मुगल शासन की स्थापना से भारतवर्ष की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों में तेजी से बदलाव आए। इस दौर में नाट्य लेखन और रंगशाला का घोर हास हुआ। संस्कृत नाट्यपरम्परा इस दौर में लुप्त-सी हो गई। इसी दौर में भक्ति की धारा के प्रवाह से लीलामंचों का उद्भव हुआ। 'रासलीला' और 'रामलीला' जैसे-नाट्य रूप सामान्य जन के रंजन और प्रबोधन के लिए स्थापित हुए। इसी दौर में देश के विभिन्न भागों में लोकमानस की धार्मिक आस्था की अभिव्यक्ति लोकगीत, लोकनाट्य, लोककथाओं आदि के माध्यम से होने लगी। धार्मिक-पौराणिक आख्यानों के साथ ही शृंगारपरक और शौर्यपूर्ण कथाओं को भी लोकनाट्य में स्थान मिला। जात्रा, भवाई, नौटंकी, खयाल, माच आदि लोकनाट्यों के उद्भव से लोकमानस की अभिव्यक्ति की नई दिशाएँ उद्घाटित हुईं। लोकनाट्य की सहज भाषा क्षेत्रीय बोली के प्रयोग से सम्पन्न तो होती ही है, यही सहजता और सरलता संवाद, कथानक, अभिनय, रंगमंच आदि में भी मिलती है। आज के संस्कृति विरोधी दौर में भी लोकनाट्य लोकजीवन के उल्लास और उसकी पीड़ा की अभिव्यक्ति के प्रखर माध्यम के रूप में गतिशील है। सम्पूर्ण भारत में बिखरे इन लोकनाट्यों की एक लम्बी सूची है। क्षेत्रीय स्तर पर अलग-अलग तरह के ये लोकनाट्य जनमानस के मनोरंजन का साधन रहे हैं। जनसाधारण के जीवन से घुलामिला यह लोकमंच समय और क्षेत्र के हिसाब से अपना रूप बदलता रहा है। इस शोध पत्र में भारत के प्रमुख लोकनाट्य का वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

भूमिका

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की लोक-दर्शने धातु से है। देखने के अर्थ में प्रयुक्त संस्कृत की 'लोक दर्शने' धातु में घञ् प्रत्यय का योग करने पर 'लोक' शब्द निष्पन्न होता है। इसका धातुज अर्थ है - देखने वाला। "डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल की राय में 'लोक' शब्द 'लोक-दर्शन' धातु में धत्र प्रत्यय लगाकर बना है जिसका अर्थ है- देखना, प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना, सम्पूर्णता में देखना, अभिज्ञान प्राप्त करना।" अर्थात् मनुष्य अपने को अपनी सम्पूर्णता में देखना चाहता है। जो अदृश्य है, अंधेरे में छिपा है उसे देखना चाहता है और

देखने के अनुभव का आनन्द लेना चाहता है।

अतः वह उन अनुभवों से गुजर कर उसके पूरे भावों को समाहित करता है, जिसके बिना वह सचमुच अभी तक अधूरा था, अपरिभाषित था।

वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है - "लोक' हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान संचित हैं। अर्वाचीन मानव के लिए 'लोक' सर्वोच्च प्रजापति है।"

'लोक' शब्द अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में सामान्य जनता के अर्थ में 'लोक' शब्द अनेकत्र प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में 'लोक' शब्द का प्रयोग जीव तथा स्थान दोनों अर्थों में



किया गया है। अथर्ववेद में भी सामान्य लोग के अर्थ में ही इसका प्रयोग हुआ है।

'लोक' और 'नाट्य' के संयोग से निर्मित 'लोकनाट्य' एक सामासिक शब्द है। 'लोकनाट्य' से तात्पर्य ऐसे नाट्य से है, जिसमें लोकमानस की अभिव्यंजना होती है तथा जो लोक द्वारा लोक के रंजन के लिए निर्मित होता है। लोकजीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण इसमें लोक से जुड़े विश्वास, मूल्यों आदि की प्रभावी अभिव्यक्ति होती है। क्षेत्रीय और जनप्रिय नाटक-शैलियों को प्रायः लोक नाटक के नाम से सम्बोधित किया जाता है, किन्तु लोक नाटक शब्द अंग्रेजी के 'फोक ड्रामा' से उधार लिया गया है। "आक्सफोर्ड कम्पेनियन ऑफ ड्रामा" के अनुसार - 'फोक प्ले', अर्थात् लोक नाटक ऐसा नाट्य-मनोरंजन है जो ग्रामीण उत्सवों पर ग्रामवासियों द्वारा स्वयं प्रस्तुत किया जाता है और प्रायः अशिष्ट और देहाती होता है। योरोप में लोक नाटक आदिम जीवन में लोकोत्सवों में प्रारम्भ हुए थे। उनमें मृत्यु पुनर्जन्म तथा स्थानीय महापुरुषों के विवरण, नटों के खेल इत्यादि होते थे। इंग्लैण्ड में 'ममर्स प्ले' को लोक नाटक कहा जाता है। लोकनाट्य, परम्पराशील नाट्य के नाम से भी अभिहित किए जाते हैं।

भारत के हिन्दी प्रदेशों में लोकनाट्य के रूप में रामलीला, रासलीला, नौटंकी और भांड, स्वाँग, नकल, कृष्णलीला, लीला आदि आदि का प्रदर्शन आज भी बड़े जोर-शोर से होता है।

उत्तरी एवं पूर्वी भारत के प्रमुख लोकनाट्य

उत्तरी भारत के प्रमुख लोकनाट्य

रासलीला - 'रासलीला' के प्रवर्तक हितहरिवंश माने जाते हैं। सर्वप्रथम अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन तथा राजस्थान के नाथद्वारा, कांकरोली

आदि स्थानों पर भगवान् की विधिवत् सेवपूजा प्रारम्भ हुई। भगवान् को समय पर उठाना स्नान कराना, झुलाना, भोग लगाना, सुलाना आदि मानवीय क्रियाओं से सम्बद्ध किया गया। भक्तजन आकर उनके सम्मुख पुष्पांजलि अर्पित करते, भेंट चढ़ाते और उनकी लीलाओं से ओतप्रोत हो गाते, नाचते, गिड़गिड़ाते और प्रभुमय हो जाते। ये ही नृत्यपद आगे जाकर रासलीला के आधार बने। रासलीला में मुख्यतः कृष्ण की विविध लीलाएँ दिखाई जाती हैं। इसके प्रधानतः दो अंग माने जाते हैं- 1 मूल रास, 2 अंश रास।

"मूलरास में कृष्ण तथा राधिका की झाँकियाँ दिखाई जाती हैं। सखियाँ उनकी आरती करती हैं। तदुपरान्त कृष्ण-राधिका से रास मण्डल चलने को कहते हैं। धमार पर कृष्ण-राधिका तथा गोपियाँ नृत्य करती हैं। 'अंश रास' में विविध झाँकियाँ दिखाई जाती हैं।" इसमें भाग लेने वाले सभी अभिनेता स्वरूप कहलाते हैं। सभी रास की परम्परागत शैली पर पाँवों के टुकड़े निकालते हुए उठक-बैठक लगाते हैं। कृष्ण उड़िया खाते हैं। सिर के बल ज़मीन छूते हैं और घुटनों की सहायता से चकरियाँ भरते हैं। रास समाप्ति के बाद राधा-कृष्ण के भावपूर्ण नृत्य दिखाए जाते हैं। मुख सज्जा के लिए मुरदासिंगी, हल्दी, चन्दन तथा परेवा का प्रयोग किया जाता है।

रासलीला ब्रजखण्ड का सुघड़ मंच है। इसमें रास रचैया श्रीकृष्ण के जीवनचरित को नृत्य एवं अभिनय के माध्यम से रूपायित किया जाता है। इसके सूत्र अति प्राचीन हैं। वर्तमान रासलीला का स्वरूप नारायण भट्ट लिखित 'ब्रजोत्सव चन्द्रिका' तथा 'प्रेमांकुर' नामक ग्रन्थों से रूपायित हुआ कहा जाता है। अष्टछाप के कवियों ने अपनी काव्य कृतियों द्वारा इसे विकसित होने में



सहायता प्रदान की है। चन्द्रसखी ने ब्रज की लोकसंस्कृति के विविध रंगों से सराबोर होते हुए इसे ब्रजमय बनाने का महत्त्वपूर्ण उद्योग किया। क्या पात्र, क्या कथानक, क्या धुनें और लहजे सभी में ब्रज की सौंधी सुगंध फूट पड़ी। ब्रज का लोकरंग उमड़ पड़ा। आगे जाकर हितवृन्दावनदास ने रासलीला को समग्र ब्रज का दर्पण ही बना दिया। कृष्णकन्हैया की रासलीला ब्रज की रासलीला बन गई। ब्रज की रीतियाँ, नीतियाँ, उत्सव, त्यौहार, कहकहे तथा कानाफूसियाँ सभी में रासलीला का धोरा आ समाया। रासलीला का नायक कृष्ण और विदूषक मनसुखा कहलाता है। यह मनसुखा ग्वालबालों तथा गोपियों का बड़ा प्रेमी, मसखरा तथा छोड़ा होता है। इसका मंच सादा होता है। रास के अभिनेता रासधारी कहलाते हैं। इसमें बालक अथवा युवा लोग ही भाग लेते हैं। लीला में संवाद की बहुलता रहती है। अभिनय पक्ष गौण रहता है। लीला के प्रारम्भ तथा अन्त में आरती की रस्म की जाती है। यह आरती युगल छवि राधा-कृष्ण की होती है। लीला समाप्ति की आरती दर्शक-जनता भी लेती हैं और श्रद्धानुसार भेंट चढ़ाती हैं। ब्रज में रासलीला की कई मण्डलियाँ हैं।

रामलीला - 'रामलीला' उत्तरप्रदेश का सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सर्वव्यापी लोकमंच है। सन्त कवि गोस्वामी तुलसीदास तथा मेघा भगत इसके कर्णधार कहे जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि सर्वप्रथम तुलसीदास ने काशी में रामलीला को व्यवस्थित किया। इस लीला में भगवान् राम का जीवन-चरित्र प्रदर्शित किया जाता है। इसमें लीला शब्द रासलीला की देन है। रासलीला के आधार पर ही रामलीला का प्रचार हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

रामलीला और रासलीला में बहुत कुछ समानता पाई जाती है। दोनों के मंच मुक्ताकाशी होते हैं। रामलीला में पदों का प्रयोग पारसी रंगमंच के प्रभाव के कारण प्रारम्भ हुआ। दोनों का सूत्रधार व्यास आसनी होता है, जो आवश्यक निर्देशन देता हुआ समग्र लीला का संचालन करता है। इसका प्रारम्भ भी आरती से होता है। यह आरती मुकुट पूजा के रूप में की जाती है। अन्त भी आरती फिराकर होता है। आरती में जो भेंट प्राप्त होती है वह नटों में बाँट दी जाती है। रामलीला की रंगस्थली अधिक विस्तृत होती है। प्रमुख प्रमुख स्थानों के लिए अलग-अलग स्थान नियुक्त किए जाते हैं। यथा पंचवटी, चित्रकूट, लंका आदि। समग्र नाट्यरूपों में रामलीला ही एक ऐसा नाट्य है जो सर्वाधिक लोकप्रिय तथा व्यापक रूप में प्रचारित है।

माच - 'माच' मालवा का सुप्रसिद्ध लोकनाट्य है। मालवा में यह उतना ही लोकप्रिय है, जितना राजस्थान में ख्याल। यह मंच का अपभ्रंश है जो एक विशेष प्रकार के मंच एवं उस पर अभिनीत होने वाले खेल के अर्थ में रुढ़ बनकर माच कहलाया। इसकी पृष्ठभूमि में मालवा में प्रचलित धार्मिक और शृंगारिक प्रवृत्तियों का योगदान रहा है। ढारा-ढारी के खेल, गर्वा पर्व, स्वाँग, नकल के प्रदर्शन और तुर्रा-कलंगी के आयोजन प्रारम्भ में छोटे पैमाने पर होते थे। "इन विभिन्न लोकशैलियों से माचकारों ने विभिन्न तत्त्व ग्रहण किए। ढारा-ढारी के खेलों से अभिनय, गर्वा पर्व से संगीत, तुर्रा-कलंगी से काव्य-रचना और नकल स्वाँग प्रदर्शनों से हास-परिहास, चुटीले व्यंग्य एवं जन मनोरंजन के उपादान जुटाए।"

"माच" शब्द संस्कृत मंच का तद्भव रूप है। 'माच' शब्द के मालवी में प्रचलित कई परिवर्तित रूप मिलते हैं, यथा-मचान, माचा, माची, मचली,

माचली, मचैली इत्यादि। प्रकृत संदर्भ में यह शब्द रंगमंच तथा उस पर प्रस्तुत किए जाने वाले खेल (नाट्य) के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

यह संस्कृत शब्द 'मंच' का अपभ्रंश है। अर्थात् रंगमंचीय आडम्बरों से रहित मंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले 'खेल' (नाट्य) कालान्तर में 'माच' कहलाने लगे। मंच और खेल-दोनों के ही अर्थ में 'माच' शब्द रूढ़ बन गया। इस नाट्य में विभिन्न पौराणिक और सामाजिक कथाओं तथा प्रेम लीलाओं का सजग अंकन होता है। यह एक गीतिनाट्य है जिसे जनरुचि के अनुरूप मनोरंजन के उपादानों से समृद्ध किया जाता है। 'माच' की प्रस्तुति के लिए गीत, वाद्य और नृत्य पर केन्द्रित अभिनय ही पर्याप्त है। इसका मंच दृढ़ खम्बों पर कई फुट ऊँचा बनाया जाता है और उसे आम के पत्तों, झालरों, कागज़ की रंगीन झंडियों से सजाया जाता है।

राजस्थान में तुरा-कलंगी ख्यालों के मंच की भाँति माच का मंच भी लकड़ी के तख्तों पर बल्लियों की सहायता से बड़े कलात्मक ढंग से बनाया जाता है। खेल प्रारम्भ होने के लगभग पन्द्रह दिन पूर्व खेल प्रदर्शन-सूचक खम्भ गाड़ दिया जाता है। पूर्वरंग में प्रारम्भ में सभी अपनी साधारण वेशभूषा में मंच पर आकर समूह रूप में देवी-देवताओं का सुमिरण करते हैं। तदनन्तर बारी-बारी से प्रत्येक कलाकार अपने उस्ताद को मुजरा सलाम करता है। चोपदार मुजरा करने वाले का नाम पुकारता है और तत्पश्चात् अगली तैयारी के लिए सभी मंच से चल पड़ते हैं। इसके तुरन्त बाद भिश्ती का प्रवेश होता है। यह गीत-बोलों के साथ अपनी मसक से पानी छिड़कता है। इसके चले जाने के बाद फर्सासन आती है जो जाजम बिछाने की रस्म पूरी करती है। इसके पश्चात् गणेश जी एवं देवी की वन्दना की जाती

है। देवी की वन्दना के बोल नाककसा के पण्डे द्वारा उच्चरित किए जाते हैं। स्वयं देवी का आगमन होता है। देवी आशीर्वाद देती हैं और गुरु की जय के साथ अत्यन्त ही नाटकीय ढंग से माच का खेल प्रारम्भ होता है।

माच में भैरव की स्तुति अनिवार्य समझी जाती है। प्रारम्भ में सम्भवतः ऐसा नहीं रहा होगा। भिश्ती फर्सासन की अभिनय-शैली और गीत-अदायगी कठपुतली खेल के भिश्ती फर्सास से हूबहू मिलतीजुलती है। कहीं-कहीं तो इनके बोल जैसे-के-तैसे मिलते-जुलते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये माच कठपुतली खेलों से भी बहुत हद तक प्रभावित हैं।

माच के मूल में ख्यालों की पीठिका रही है। इसके अनुसार मालवा के माच ख्याल हैं। इन ख्यालों के बाद ही माच का प्रचलन हुआ। माच के आदि प्रवृत्तक गुरु गोपाल जी ने सर्वप्रथम राजस्थानी ख्यालों का मालवी रूपान्तर किया और उन्हीं ख्यालों का आधार लेकर लोकशैली में माच ख्याल की रचना की। इन माचों की विषयवस्तु, शैली तथा रंगतें भी राजस्थानी ख्यालों के ही अनुरूप रही हैं। माच रचनाओं के नामकरण में भी यही ख्याल शब्द मुख्य रूप से उभरा हुआ मिलता है यथा-ख्याल माच का ढोला-मारवणी, असली ख्याल माच का सेठ-सेठाणी, इसीलिए कहीं-कहीं ये माच, 'माच-ख्याल' के नाम से भी प्रचलित हैं।

माच में विदूषक का बड़ा महत्त्व है। कठपुतली में तीसमारखाँ की भाँति यह विदूषक शेरमारखाँ के नाम से जाना जाता है। यह प्रायः नायक के साथ रहता है। नायक कोई भी हो, चन्द हो चाहे हरिश्चन्द्र, विदूषक शेरमारखाँ ही होगा। यह बड़ा चतुर, गुणी और विनोदी होता है। वक्त आने पर यह नायक का काम भी करता है। नायक जब



सुस्ताने लगता है तब वह अपनी तलवार इसे थमा देता है और यह उसकी जगह काम करने लग जाता है। तलवार थमाने की यह क्रिया तलवार देना कहलाती है।

माच ख्यालकारों में सर्वाधिक ख्याति गुरु बालमुकुन्द को मिली। उनकी लिखी राजा हरिश्चन्द्र, नागजी, दूदजी, ढोला-मारुणी, गेंदापरी, राजा भरथरी, सुदबुद सालंगा, हीर-रांझा, देवर-भोजाई, चारण-बंजारा आदि रचनाएँ अधिक लोकप्रिय हुईं। गुरु कालू तथा भेरू ने भी इस क्षेत्र में बड़ा नाम कमाया। बाद में सिद्धेश्वर सेन और उनकी मण्डली ने मालवा के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में भी बड़ी सफलता के साथ अपने प्रदर्शन किए।

“जान मालकम ने उन्नीसवीं सदी में माच के जो प्रदर्शन उज्जैन के पास देखे, उसमें उन्होंने ‘तीन-खन का खेल’ नामक माच का उल्लेख किया है। चौमुहाने पर एक तिमंजिला मंच खड़ा किया गया था। सबसे नीचे की मंजिल पर घर के भीतरी कक्ष में चैपड़ खेलने का अभिनय दिखाया जा रहा था। बीच वाली मंजिल पर एक नृत्य हो रहा था और सबसे ऊपर गंजफा के खेल दिखाए जा रहे थे।”

यद्यपि आजकल माच में इस तरह की तीन मंजिलें नहीं दिखाई जाती हैं, तथापि मंच काफी विशाल होता है और उसके ऊपर विविध रंग के चँदोवे ताने जाते हैं। माच में रंगशाला का दाहिना भाग वयोवृद्ध दर्शकों के लिए निश्चित होता है। ठीक सामने चार खम्भे होते हैं, जिन्हें बाँदी के खम्बे कहते हैं और जहाँ अफसरों और राजपुरुषों के लिए स्थान नियुक्त होता है। माच के रंगमंच पर ठीक पीछे एक स्थान गायक-मण्डली के लिए नियत है, जिसे टेक-का-पाट कहते हैं अर्थात् वह पाट जहाँ से नाट्यगीतों की टेक उठाई जाती है।

वस्तुतः यह टेक ही वह अदृश्य, किन्तु श्रव्यसूत्र है, जो नाटक की गति को संचालित करता है।

माच के प्रारम्भ में एक भिंती आता है और अपने वंश की कथा कहने के बाद मशक से जल छिड़कने का अभिनय करता है। उसके बाद फ़र्श आता है और उसी भाँति अपनी वंशावली का गीत गाकर फ़र्श बिछाने का अभिनय करता है। माच में नाटक की घोषणा, जिसे नाट्यशास्त्र में ‘प्ररोचन’ कहा गया है, चोपदार द्वारा की जाती है।

‘माच’ मालव की लोकधर्मी रंग-परम्परा का विशिष्ट नाट्यरूप है। मुक्ताकाशी रंगमंच पर अभिनीत किए जाने वाले इस नाट्य प्रयोग में लोकाभिव्यक्ति के समस्त रूपों-लोकगीतों, लोककथाओं, लोकगाथाओं, लोकनृत्यों और लोकसंगीत का समुचित सन्निवेश है। इस दृष्टि से माच एक ‘समग्र नाट्य’ (टोटल थियेटर) के रूप में अपार सम्भावनाओं से भरपूर रंगसृष्टि है। प्रायः दो सौ वर्षों की सुदीर्घ विकासयात्रा के उपरान्त माच मालवा में प्रचलित लोकानुरंजन की पूर्ववर्ती विविध शैलियों से प्रेरित अनुप्राणित तथा विकसित होकर अपना वर्तमान विशिष्ट रूप ग्रहण कर सका है।

नौटंकी - यह लोकनाट्य मनोरंजन के प्राचीन साधनों में से एक है। इसकी मूल प्रवृत्ति शृंगारी है। कुछ लोग ‘नौटंकी’ की प्रवृत्ति नाटकी से मानते हैं और उसकी परम्परा को नाट्यशास्त्र के ‘सट्टक’ से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। जयशंकर प्रसाद ‘नौटंकी’ को नाटक का अपभ्रंश मानते हैं। ‘नौटंकी’ शब्द ही नाटकीयता का व्यंजक है। इसके पर्याय रूप में ‘सांगीत रूपक’ भी प्रचलित है जो इसकी संगीतपूर्ण बनावट का पूर्वाभ्यास कराता है। नाट्य आलोचक रामबाबू सक्सेना ‘नौटंकी’ का उद्भव उर्दू कविता और लोकगीतों से



मानते हैं, जबकि जगदीशचन्द्र माथुर का कथन है- "नौटंकी पहले एक गाथा का नाम था जो इतनी लोकप्रिय हुई कि नाट्य-रूप विशेष का पर्याय बन बैठी।"

यह भी प्रचलित है कि नौटंकी मुल्तान की सुन्दर राजकुमारी का नाम था, जिसकी प्रेमकथा पर लिखा गया स्वाँग इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि कालान्तर में उस शैली में लिखे गए सारे स्वाँग ही नौटंकी कहे गए। लोगों का यह मानना भी है कि ख्यालों के साथ नौ प्रकार के नक्कारे बजाए जाते थे, इस कारण 'नौटंकी' नाम का प्रचलन हुआ। आज भी ख्यालों के साथ नक्कारों की प्रधानता बनी हुई है। राजस्थान में इन्हें 'नक्कारे ख्याल' भी कहते हैं।

नौटंकी के प्रदर्शन क्षेत्र हैं - उत्तरप्रदेश, बिहार, हरियाणा का दक्षिणी भाग तथा राजस्थान। उत्तरप्रदेश में हाथरस तथा कानपुर नौटंकी के प्रसिद्ध केन्द्र हैं। इन स्थानों की नौटंकियों की अपनी विशिष्टता है। हाथरस शैली की नौटंकी के प्रवर्तक पं.नथाराम शर्मा गौड़ और कानपुर शैली की नौटंकी के प्रवर्तक श्रीकृष्ण पहलवान कहे जाते हैं। पं.नथाराम शर्मा गौड़ की नौटंकी (सांगीत) में हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग है, किन्तु श्रीकृष्ण पहलवान की सांगीत में उर्दू का ही प्रयोग दृष्टिगोचर है। प्रायः दोनों ने ही- 'त्रियाचरित्र', 'भक्त प्रहलाद', 'अमरसिंह राठौर', 'सुलताना डाक्', 'किसान-कन्या', 'लैला-मजनूँ' आदि सांगीतों की रचना अपने ढंग से की है, किन्तु 'दहीवाली', 'खुदा दोस्त सुलतान और कुछ नए ढंग के सांगीतों की रचना श्रीकृष्ण पहलवान ने ही की है। इन्होंने व्यावसायिक स्तर पर नौटंकी का प्रदर्शन प्रारम्भ किया था, किन्तु राष्ट्रीय जन-जागरण से ओत-प्रोत-जलियांवाला बाग, 'शहीद भगतसिंह', 'टीपू सुलतान तथा

'बलिया का शेर' नामक सांगीतों की प्रस्तुति कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया, जिसके लिए 'संगीत नाटक अकादेमी' द्वारा इन्हें पुरस्कार भी प्रदान किया गया। 'श्रीकृष्ण सांगीत कम्पनी' के त्रिमोहन उस्ताद को नक्कारे का जादूगर भी कहा गया है।

हाथरस की नौटंकी बड़ी प्रसिद्ध है। इसे 'स्वाँग' या 'भगत' भी कहते हैं। आगरा में 'भगत' नामक लोकनाट्य का प्रचुर प्रचार है। ब्रजमण्डल में खुले हुए रंगमंच पर नौटंकी के ढंग पर 'भगत' का अभिनय किया जाता है। हाथरसी शैली में भुरीलाल ने 'मुरलीधर हरनारायण मण्डली' में अपने सांगीत ख्याल प्रारम्भ किए। 'गुंजभरी' तथा 'भाईगीर' नामक ख्याल इस मण्डली के प्रसिद्ध नाट्य हैं जिन्हें सिनेमा के गीतों-सी लोकप्रियता हासिल हुई। "सांगीत में गज़ल, ख्याल, बहरेतबील, मुस्तेजाद, रंगतबाना आदि फारसी छन्द और दोहा, चैपाई, कवित्त, दादरा, ठुमरी, लावनी, हरिगीतिका, शार्दूल, विक्रीडित, भुंजग प्रयात आदि के साथ ही आल्हा, कजरी, कहावा आदि लोक छन्दों की संरचना भी रहती है।" अर्थात् यह ग्राम्य जगत् का प्रिय लोकमंच है जिसमें उच्चकोटि की छन्दबद्ध कविता एवं संगीत का इस्तेमाल पूरी लय और तुक के साथ होता है।

नौटंकियों के ख्यालों की भाँति नौटंकियों के स्वाँग भी प्रदर्शित किए जाते हैं। ये स्वाँग डोम आदि जिजमानों के दरवाजे पर नेग प्राप्त करने के लिए करते हैं। ढोलक तथा नक्कारे इन स्वाँगों के प्रिय वाद्य होते हैं। संगीत, नृत्य, अभिनय एवं वाद्य आदि की दृष्टि से ये स्वाँग नौटंकी की ही रंगत लिए होते हैं, इसलिए इन्हें नौटंकी स्वाँग (सांगीत स्वाँग) नाम से सम्बोधित किया जाता है। कलाकार और दर्शक को प्रदर्शन के अवसर



पर एकसूत्रता और तन्मयता प्रदान करके ही नौटंकी को महत्त्व दिया जा सकता है, जिससे आधुनिक युग के अनुरूप नौटंकी का रूप रंगमंच पर उभरकर उपस्थित हो सके। नौटंकी कला केन्द्र ने इसके लिए भरसक प्रयत्न भी किया है। नौटंकी ख्यालों का एक प्रकार है। राजस्थान तथा उत्तरप्रदेश इसके प्रमुख क्षेत्र हैं। नौटंकी के सम्बन्ध में कई कथा-किंवदन्तियाँ सुनने को मिलती हैं पर तथ्य यह है कि मुलतान की शाहजादी नौटंकी के साथ घटित प्रेम-प्रसंग ही इन ख्यालों का मुख्य आधार रहा और इन्हीं से नौटंकी का बीजारोपण हुआ।

उत्तरप्रदेश में हाथरस तथा कानपुर इन ख्यालों के प्रसिद्ध गढ़ हैं। इन दोनों स्थानों की नौटंकियों की अपनी विशिष्ट शैली रही है इसलिए यहाँ की नौटंकियाँ इन्हीं स्थानों के नाम से पुकारी जाती हैं। इनमें हाथरसी शैली की नौटंकी के प्रवृत्तक नत्थाराम गौड़ तथा कानपुरी नौटंकी के श्रीकृष्ण पहलवान कहे जाते हैं। हाथरसी नौटंकी अत्यन्त सरल तथा उसका संगीत सुगम है। कानपुरी नौटंकी की भाँति इसमें न तो छन्दों की विविधता मिलेगी न अनेकरूपता ही। हाथरसी नौटंकी की मंचसज्जा, कानपुरी नौटंकी की भाँति पारसी रंगमंच से प्रभावित नहीं है। इसके वेशविन्यास में भी उतनी चमक-दमक तथा भड़कीलापन नहीं मिलेगा।

श्रीकृष्ण पहलवान ने सन् 1927-28 में सर्वप्रथम कानपुर में श्रीकृष्ण संगीत कम्पनी के नाम से नौटंकी का व्यावसायिक प्रदर्शन प्रारम्भ किया। शौकिया प्रदर्शन तो इससे भी पूर्व प्रारम्भ हो चुका था। ये नौटंकियाँ राष्ट्रीय जन-जागरण से ओतप्रोत थीं। अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी का भी इन पर यथोचित प्रभाव पड़ा। यही कारण था कि इनकी लिखी जलियांवाला बाग, टीपू

सुलतान, शहीद भगतसिंह, बलिया शेर आदि नौटंकियाँ जनमानस में राष्ट्रीय भावनाओं की प्रबल प्रेरक सिद्ध हुईं।

श्रीकृष्ण पहलवान के अतिरिक्त कानपुरी नौटंकी के अन्य प्रणेताओं में त्रिमोहन उस्ताद, लालमणि नम्बरदार तथा छिद्दन उस्ताद का नाम सर्ग्व लिया जा सकता है। त्रिमोहन उस्ताद ने नक्काड़े के जादूगर के रूप में विशेष ख्याति पाई। उस्ताद नत्थाराम की नौटंकियों में भी उन्होंने नक्काड़ा वादन में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। उस्ताद इन्दरमन के समय में भी उनकी नक्काड़ेबाजी का सभी लोहा मानते थे। लालमणि नम्बरदार सम्पन्न जागीरदार थे, परन्तु नाचगान का अच्छा शौक होने के कारण उन्होंने अपनी स्वयं की मण्डली जुटाई। नक्काड़े पर जुगलबन्दी के बेजोड़ कलाकार के रूप में छिद्दन उस्ताद की देन अविस्मरणीय मानी जाएगी।

इन नौटंकियों के लिए किसी नियमित प्रेक्षागृह की आवश्यकता नहीं रहती। इनके लिए गाँव की चौपाल या बगिया अथवा नगर के किसी भी सार्वजनिक स्थान, सड़क या आश्रयदाता के द्वार के सामने मार्ग रोककर मंच बना लिया जाता है। यह मंच ऊँचाई के लिए तख्त पर तख्त रख, उन पर दरी बिछा कर बना लिया जाता है। यह चारों ओर से खुला रहता है।

मंगलाचरण, ईश्वर प्रार्थना, वन्दना, स्तुति, हम्दे खुदा या कोरस से लेकर नौटंकी के उपसंहार के छन्द तक सभी हिन्दी, उर्दू या लोक छन्द गेय हैं। मंगलाचरण प्रायः भजन, गज़ल आदि विभिन्न राग-रागिनियों में गाए जाते हैं। इनमें ललित, कालिंगड़ा, भैरवी, देस, धुपद, मालकोस आदि प्रमुख हैं। दोहा, चौपाई, सोरठा आदि हिन्दी के बैहरेतबील, कव्वाली, गज़ल, शेर आदि उर्दू के तथा चौबोला, दोबोला, लावनी, ख्याल, साहनी,



थियेटर दादरा आदि नौटंकी के विशिष्ट छन्द हैं, जिनकी अपनी विशिष्ट धुनें भी हैं। मंच पर वादकवृन्द एक ओर बैठते हैं और सभी पात्र सज संवर कर एक बार आ जाने के बाद मंच पर ही बने रहते हैं। मंगलाचरण के बाद रंगा नौटंकी की कथा के स्थान, समय, नायक एवं उससे सम्बन्धित प्रमुख पात्रों का वर्णन करता हुआ कथा का प्रारम्भ करता है और बीच-बीच में भी कथासूत्र जोड़ता चलता है। नौटंकी में दृश्य परिवर्तन भी रंगा की वार्ता द्वारा ही होता है। कभी-कभी कामिक, गाने अथवा नृत्य द्वारा भी दृश्य-परिवर्तन की सूचना दे दी जाती है।

सांग - यह नाट्य, 'स्वाँग' का तद्रूप रूप है जिसका अर्थ होता है - भेष भरना या नकल करना। नाट्य आलोचक डॉ.दशरथ ओझा ने 'स्वाँग', 'नौटंकी' (सांगीत) और 'सांग' को एक-दूसरे का पर्याय माना है। उन्होंने 'सांग' को पूर्वी और पश्चिमी दो रूपों में बाँट दिया है। उनका कथन है - "पूर्वी रूप हाथरस, एटा आदि जिलों में प्रचलित है और पश्चिमी रूप हरियाणा (रोहतक) में। पूर्वी रूप के आधुनिक कवि पं.नथाराम शर्मा गौड़ और पश्चिमी के पं. लखमीचन्द और हरदेवा माने जाते हैं।"

पूर्वी रूप अर्थात् 'नौटंकी' (सांगीत) है। पश्चिमी रूप में प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सांग-सांगीत अर्थात् नौटंकी से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। क्षेत्रीय प्रभाव (भाषा और संस्कृति) के आधार पर कहेँ या कुछ अन्य कारणों से, कुछ भिन्नता अवश्य है।

पश्चिमी रूप में यह नाट्य दिल्ली के देहात, हरियाणा में रोहतक, सोनीपत, पानीपत, कुरुक्षेत्र, जींद, गोहाना और भिवानी में विशेष रूप से सक्रिय रहा। पं.लखमीचन्द के पुत्र भी प्रसिद्ध सांगी थे। पं.लखमीचन्द के अनेक शिष्यों ने

उनकी कहावतों एवं रागनियों पर सांग खेले और शिष्य परम्परा को बनाए रखा।

सांग मण्डली में एक कौटुम्बिक और गुरु-शिष्य की भावना निहित रहती है। पं.लखमीचन्द और हरदेवा के अनेक शिष्य इस परम्परा का निर्वाह करते हुए सांग खेलते रहे। पं.मांगेराम, तुलेराम, सुलतान सांगी, पं.खीमचन्द स्वामी आदि कलाकारों ने पं.लखमीचन्द और हरदेवा के रचे सांगों के अलावा अपने द्वारा रचे सांग भी खेले हैं। इनके द्वारा रचे कथ्य एवं रागनियों का प्रचलन सम्पूर्ण हरियाणा में आज भी बना हुआ है। 'निहालदे', 'नल दमयन्ती', 'जानी-चोर', 'रूप-कंवर', 'ढोल कंवर', 'नौटंकी कथा', आदि किस्से इन सांगियों द्वारा प्रस्तुत किए जाते रहे हैं।

इस नाट्य मण्डली में पन्द्रह-बीस के आस-पास कलाकार होते हैं। कुछ जनाना वेश में नाचते हैं तो मुखिया मर्दाना वेश में रागनियों द्वारा कथा के सूत्र खोलता चलता है। शेष सभी प्रचलित कथा को एक रूप और स्वर देते हुए गाते हैं। एक बड़े मैदान में तीन-चार तख्त डालकर बीच में ढोल-ढपरी वाले बैठ जाते हैं। हुक्का भी वहीं रखा होता है। चारों किनारों पर कथा चलती है। बीच-बीच में भडौला (नकलची) व्यंग्य कसता है और लोगों को हँसाता है। जनाना वेशधारी युवक चारों कोनों पर रागनियों की पंक्तियाँ दोहराते हुए नाचते हैं।

हरियाणा का जानोल्लास 'सांग' के द्वारा प्रस्फुटित होता है। कथा-गीत इसका प्राण है और यह एक नाटकीय रूप में होकर चलता है। चौबोल, त्रिबोल, दोहा, तोड़ और रागनी का एक-एक शब्द श्रंगार और वीर रस के ताने-बाने से बुना होता है और श्रोताओं पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है। सांगी का अररर ... का खींचा स्वर जादू-सा असर करता है। पं.लखमीचन्द माने हुए



सांगी के रूप में आज भी याद किए जाते हैं। यह व्यक्ति हरियाणा का 'बोल सोनारे' था। हरियाणा स्थित विश्वविद्यालयों में उन पर अनेक शोधार्थियों ने शोध कार्य किया है। उनके द्वारा रचे सांग, कथा, बोल और कहावतें गाँव-गाँव में दोहराई एवं गाई जाती हैं।

सांग का अर्थ स्वाँग से है। यह हरियाणा का नकलपरक नाट्य है। इसका अर्थ रूप भरने अथवा नकल करने से है। स्वाँग धारण कर किसी के रूप को आरोपित करना ही सांग भरना है। सांग भरना उधर मुहावरे के रूप में भी प्रचलित है। लम्बा कथागीत सांग का मुख्य प्रयोजन है। यह कथागीत सवाल-जवाबमय होता है। इसमें पद्य की प्रधानता पाई जाती है। बीच-बीच में गद्यखण्ड वार्ता कहलाता है। कथा को आगे बढ़ाने के लिए कवि के जवाब के रूप में रचनाकार 'आगे सुणो हवाल' कहकर दर्शकों को आगे की बात जानने की जिज्ञासा बढ़ाता हुआ दिखाई देता है और आगे का हवाल वार्ता में 'तो सुणो भाइयो, जरा गौर से सुणो' से प्रारम्भ कर मीठी चुटकी में दर्शकों को रस मग्न कर देता है। सांग के कथानक जनजीवन में प्रचलित लोकप्रिय विषयों से सम्बन्धित होते हैं, परन्तु वर्तमान में सचरित्र कथानकों से लेकर छोछले, फूहड़ तथा अशिष्ट कथानकों का प्रचलन भी धड़ल्ले के साथ हो गया है। सांग का मंच मुक्ताकाशी होता है। ये गीति-नाट्य के विशेष करीब कहे जा सकते हैं।

प्रो.मोहन मैत्रेय के अनुसार हरियाणा में सांग लेखन की शुरुआत सन् 1750 के आस-पास किशनलाल भाट ने की। इसका आरम्भिक रूप मुजरे का था जिसमें दो पात्र नकल द्वारा अभिनय करते थे। साथ में सारंगी, बाजा तथा ढोल की संगत होती। अम्बाराम तथा बंसीलाल सांगी ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया।

अलीबखश, शंकरलाल तथा बालकराम के सांगों को देखने का लोगों में जुनून था, क्योंकि ये सांग लोगों की दबी इच्छाओं को वाणी देते तथा शुद्धिकरण भी करते।

किशनलाल के बाद दीपचन्द पटवारी ने सांग को नई दिशा दी। इसके पूर्व रामलाल खटीक तथा नेतराम का नाम लिया जाता है। ये भजनी थे। दीपचन्द का प्रथम सांग सोरठ था जिसने जनता में बड़ी हलचल मचा दी। इनके 'नल दमयन्ती', 'हरिश्चन्द्र', 'राजा भोज', 'जानी चोर', 'उत्तानपाद' जैसे और भी सांग थे। इनके समय प्रदर्शन के दौरान खड़े रहने की बजाय चौकी-मूढ़े का प्रयोग शुरू होने लगा। वाद्य में एक तारे का स्थान सारंगी और ढोलक की जगह नक्कारे ने लिया। सांग को वर्तमान रूप प्रदान करने में पं.लखमीचन्द का नाम सर्वोपरि है। इनके पुत्र पं.तुलेराम ने इनकी विरासत सम्भालते हुए सांग को अधिक रोचक बनाया।

भांड - 'भांड' का उद्गम संस्कृत के 'भाण' शब्द से हुआ है। संस्कृत के 'भाण' से तात्पर्य व्यंग्यात्मक बात कहना है। अर्थात् व्यंग्यात्मक रूप में नकल उतारना। उत्तरप्रदेश और हरियाणा में इसे प्रस्तुत करने वाले नकलची को 'भांड' कहते हैं। ये भांड बड़े हाजिर जवाब और चुटकुले बाज होते हैं। ये लोग न केवल समाज के विभिन्न लोगों की नकल पेश करते हैं, बल्कि पशु-पक्षियों और अमूर्त तत्त्वों की नकल भी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रहसन को प्रायः दो भांडों के तमाशे के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। एक भाइया तो दूसरा औरत बनता है। भाइया औरत बने साथी से सवाल पूछता है। वह बड़े तीखे और उल्टे-सीधे जवाब देती है और बड़ी चालाकी से बात को बढ़ाकर किसी हास्यास्पद बिन्दु पर ले आती है कि भाइया उसे तड़ाक-तड़ाक चमड़े का



तमाचा मारता है। औरत बना भांड पूर्णतया औरत के लिबास में नहीं होता, बल्कि सिर पर केवल चुनरी ओढ़ लेने से औरत की नकल करता है। चुनरी से उसकी मूँछ भी साफ झलकती है। इसमें मखौल और अश्लील मजाक भी साथ-साथ चलता है।

नवाब वाजिदअली शाह के समय लखनऊ में 'भांड' का तमाशा अपनी चरम सीमा पर था। क्रूर और नृशंस लोगों का चित्र इस नाट्य में साफ झलक पड़ता है जिसका शिक्षाप्रद प्रभाव जन साधारण पर पड़ना सहज है। अपनी कला के जरिए भांड अपने दर्शकों का घण्टों मनोरंजन करते हैं और बराबर उनका ध्यान अपनी व्यंग्यात्मकता पर बनाए रखते हैं।

तुर्रा-कलंगी (खयाल) - लोकनाट्य का वह रूप जो परम्परागत बंधी-बंधाई रंगशैली में लोकजीवन में प्रचलित आख्यानों का प्रदर्शन कर सामान्य जनता का मनोरंजन करता है, खयाल कहलाता है।

माघ के खयालों में तुर्रा-कलंगी के खयाल अपनी विशिष्ट शैली के कारण जनजीवन में अधिक लोकप्रिय रहे हैं। यही कारण है कि आज भी राजस्थान में इनके प्रसिद्ध अखाड़े देखने को मिलते हैं। कहा जाता है कि तुकनगीर तथा शाहअली नामक दो संतों ने इन खयालों का बीजारोपण किया था। दोनों ही प्रकाण्ड पण्डित, आत्मजानी तथा तत्त्वदर्शी थे। एक शिव का उपासक था तो दूसरा शक्ति का। दोनों पहुँचे हुए संत थे इसलिए इनके अनुयायी भी कई थे। तुर्रा-कलंगी खयालों का मिजाज अन्य सभी खयालों से भिन्न रहा है। जहाँ भी इन खयालों के प्रदर्शन करने होते हैं, वहाँ एक मास पूर्व खम्भा गाड़कर उस पर अपने अखाड़े की झण्डी लगा दी जाती है। इस खम्बे पर एक कागज़ भी चिपका दिया

जाता है जिसमें प्रदर्शित होने वाले खयाल का नाम, प्रदर्शन-तिथि, खयाल-दल, उस्ताद तथा प्रमुख कलाकारों से सम्बन्धित सारी जानकारी लिख दी जाती है। यह जानकारी लावणियों के रूप में होती है। यथा-

होगा तमासा गढ़ चित्तौड़ में सब आजो देखवा।।
फागण सुदी नोमी को तमासो सुण लीज्यो नर नार।

तारीख पंदरा मारच ने सरे वार मिल्यो सोमार।।
राजा भरथरी करां तमासो देखो सब परवार जी सब

शौकिया लोग लावणियाँ जोड़-जोड़कर, गा-गाकर गलियों तथा गाँवों में खूब प्रचार करते। ये खयाल अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। राजा-पात्र दूर जनता के बीच से घोड़े पर बैठकर आता है। यह शाही पोशाक पहने होता है। इसके साथ पूरा लवाजमा रहता है। राजा के बाएँ हाथ में तलवार तथा दाएँ हाथ में छड़ी रहती है। यह छड़ी कागज़ की बनी हुई होती है और कागज़ के फूलों से ही इसकी सज्जा की हुई होती है। रानी के हाथ में भी ऐसी ही छड़ी रहती है। दोनों छड़ी घुमाते हुए लम्बी-लम्बी टेरें देते हुए धीरे-धीरे बढ़ते रहते हैं। इन टेरों में एक-दूसरे से अपना नाम, स्थान, निवास, वंश आदि का परिचय देते हैं और तब जाकर मुख्य मंच पर मूल खेल प्रारम्भ होता है। संवाद के साथ नृत्य मुद्रा में पात्र अपनी जगह बदलते रहते हैं और उनके गाने के बाद शहनाई, नक्काड़े तथा सारंगी वाले उनकी संगत करते हैं। गाने तथा खेल का रंग जमाने में टेरियों का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण योग रहता है।

तुर्रा-कलंगी के प्रवर्तकों ने तुर्रा को ओम् शब्द का प्रतीक तथा कलंगी को आदिशक्ति का अवतार माना है। इतना मानने पर भी कलंगी अखण्ड कुंवारी तथा तुर्रा बाल ब्रह्मचारी कहा गया है



परन्तु अन्ततोगत्वा तुर्र को कलंगी का पति मानते हुए उसे जगत्जनना के रूप में स्वीकार किया जाता है। ब्रह्म और माया के इन शाश्वत सम्बन्धों को लेकर इनके समर्थकों ने तुर्रा-कलंगी पर पर्याप्त ख्याल-साहित्य की रचना की है। कई ख्याल-लेखकों ने विविध युगों में तुर्रा को विविध रूपों में अवतरित किया है। सतयुग में शिव, त्रेता में राम, द्वापर में कृष्ण तथा कलयुग में तुर्र का अवतार धारण कर उसने समस्त विश्व के दुखों का भंजन किया है। इसी प्रकार कलंगी ने भी सतयुग में शिव की शक्ति गौरी पार्वती, त्रेता में राम की अर्धांगिनी सीता, द्वापर में कृष्ण की संगिनी राधा तथा कलयुग में तुर्रा की सर्वस्व कलंगी बन अपनी विविध लीलावलियों से समग्र भूलोक को विमुग्ध किया है। तुर्रा-कलंगी के ख्यालों में 'रूपवसन्त', 'राजा हरिश्चन्द्र', 'मोरध्वज', 'ध्रुव', 'निहालदे सुलतान', 'राजा केवाट', 'राजा भरथरी', 'गोपीचन्द्र', 'रुकमणी मंगल', 'सीता स्वयंवर', 'राजा रिसालू', 'अनोपसिंह', 'भक्त पूरनमल', 'अमरसिंह राठौड़', 'नरसिंह', 'तुर्रा-कलंगी का विवाह' आदि ख्याल सर्वाधिक रूप में प्रदर्शित किए जाते हैं।

कठपुतली खेल - भारतवर्ष में कठपुतली कला का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीनकाल से ही पुतली चालक अपने दल सहित पुतलियों का पिटारा लिए गाँव-गाँव घूमते और जनता जनार्दन को कठपुतलियों के नाना खेल दिखाकर अपनी आजीविका चलाते। खेल द्वारा मनोरंजन के साथ-साथ लोक शिक्षण, सामाजिक सरोकार, ऐतिहासिक प्रसंग तथा सांस्कृतिक भाईचारे का संदेश भी आम लोगों को सहज मिल जाता। कठपुतली कला के प्रारम्भ की लोकजीवन में कई कथाएँ प्रचलित हैं। इन कथाओं में शिव-पार्वती के प्रसंग अधिकता से मिलते हैं।

विविध शैलियाँ - राजस्थान की लतुआ, दस्ताना और धागा पुतली के बाद कठपुतलियों को लेकर जो प्रयोग हुए उनके मूल में राजस्थान की कठपुतली परम्परा ही मुख्य अवदान रही। अन्य जो शैलियाँ मिलती हैं, उन्हें देखने पर यही तथ्य हाथ लगता है। उड़ीसा की पुतली कला भी राजस्थानी पुतली कला से अधिक प्रभावित है। वहाँ धागा पुतली के साथ छड़ दस्ताना एवं छाया पुतलियों का भी प्रचलन रहा। पुतली निर्माण, रंगमंच तथा कथानक आदि की दृष्टि से वहाँ की पुतलियाँ राजस्थानी पुतली का ही प्रतिरूप लगती हैं। बंगाल में भी सूत्र एवं छड़ पुतलियों का जोर रहा। वहाँ की पुतलियाँ कलात्मक एवं सुघड़ परिवेश लिए अपनी पोशाक एवं साज-सज्जा की दृष्टि से बंगाली कला संस्कृति का प्रभाव दर्शाती हैं। छड़पुतली में पुतली का सिर एक छड़ के सिरे से लगा दिया जाता है। नीचे का धड़ सिरे से एक कपड़े द्वारा जुड़ा रहता है। दोनों हाथों में भी छड़ें लगी होती हैं, जिनकी मदद से हाथ संचालित किए जाते हैं।

गोवा तथा महाराष्ट्र में पिंगुली बाहुली के नाम से विख्यात पुतलियाँ राजस्थानी पुतली के अधिक निकट कही जाती हैं। ऐसा लगता है कि किसी समय राजस्थान के कठपुतली भाट अपने प्रदर्शन देते-देते वहाँ पहुँचे और वहीं बस गए। पिंगुली पुतली का मंच बाँस का बना होता है, जिस पर कपड़ा मढ़ दिया जाता है। प्रदर्शन के समय ढोलक, खड़ताल, मजीरे आदि बजाए जाते हैं। मुखिया पवाड़े गाता हुआ संवाद कराता है। वहाँ की चर्म पुतलियों की बनावट, मूँछे, ढाल, तलवार, झगगे, किले की दीवारें आदि भी राजस्थानी परिवेश की छाप लिए हैं।

आन्ध्र की छाया पुतली चमड़े की बनी होती है। कहा जाता है कि आन्ध्र के सातवाहन सम्राटों के



राज्यकाल में इस शैली की पुतलियों का राजदरबार में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। उस समय सम्पूर्ण आन्ध्र एवं पश्चिमी तटीय प्रदेश में इन पुतलियों के कार्यक्रमों की धूम थी। वहीं से ये पुतलियाँ समुद्री मार्ग से अन्यत्र फैलीं। जावा, सुमात्रा, मलेशिया, बर्मा, इण्डोनेशिया, वियतनाम, जापान आदि देशों की पुतलियों पर आन्ध्र की पुतलियों का प्रभाव माना जाता है।

तमिलनाडु की बम्मोलोटम पुतली परम्परा भी राजस्थान और उड़ीसा पुतली शैली से मिलती-जुलती है। इस पुतली के सूत्र अँगुलियों में न पहिनकर, आधार सूत्रों को कपड़े की एक गोल इडोणी से बाँध दिए जाते हैं, जिसे पुतलीकार अपने सिर पर रखकर संचालित करता है। दोनों हाथों में लोहे की छड़ें लगी होती हैं, जिन्हें पकड़कर हाथों की क्रियाएँ की जाती हैं। इस पुतली द्वारा भरतनाट्यम् जैसा नृत्य भी प्रदर्शित किया जाता है। पुतली का सिर लकड़ी या पेपरमेशी का होता है तथा उसी के अनुरूप धड़ भी। हाथ-पैर कपड़े में रुई भरकर या लकड़ी के बनाए जाते हैं। इसका रंगमंच बहुत कलात्मक होता है।

केरल की पारम्परिक पुतुल (पुतली-कठपुतली) कला पावा कथकलि नाम से जानी जाती है। पावा का अर्थ ही पुतुल से है। विश्व के अनेक कलारूप ऐसे हैं, जिन्होंने पुतुल के माध्यम से ही जनसाधारण को प्रभावित एवं आह्लादित किया। कर्नाटक का यक्षगान भी कठपुतली खेल से लोकप्रियता को पहुँचा। पुतुल थियेटर के माध्यम से ही जापानी काबुकी थियेटर और चीनी ओपेरा जगजाहिर हुआ। कहा जाता है कि प्राचीन समय में पुतुल कला का प्रदर्शन करने वाले यायावर थे जो बंजारों की भाँति घूम-घूम कर कठपुतली प्रदर्शन करते। ऐसे कलाजीवी आन्ध्रप्रदेश से

घूमते-घामते केरल के कई गाँवों में बस गए जो आज भी अपनी वह पहचान लिए हुए हैं। उड़ीसा में डोरी से चलने वाली पुतलियाँ कुंढई कहलाती हैं। ये पुतलियाँ हल्की लकड़ी की बनती हैं और इनके पैर नहीं होते, इन्हें कमर के नीचे फहराते हुए लहंगे पहनाए जाते हैं। इन पुतलियों की वेशभूषा उड़ीसा के जात्रा रंगमंच जैसी होती है। राजस्थानी कठपुतली से भिन्न, इनमें कई जोड़ होते हैं और चलाने के लिए डोरियाँ लकड़ी के एक तिकोने उपकरण से बाँधी जाती हैं।

गोम्बेयाट्टा, मैसूर में यक्षगान शैली की कठपुतलियाँ बहुत ही रीतिबद्ध शैली से बनती हैं और एकदम यक्षगान अभिनेताओं जैसी ही दिखती हैं, उन्हें चलाने की पद्धति राजस्थानी कठपुतलियों जैसी ही है। इन पुतलियों के नाटकों में कुछ प्रसंग सामान्य यक्षगान नाटकों की भाँति ही प्रस्तुत किए जाते हैं।

तमिलनाडु के तंजावुर जिले में प्रचलित कठपुतली रंगमंच बोम्मालाट्टम कहलाता है। उसमें डोरी और छड़ी दोनों प्रकार की शैलियों के तत्त्वों और पद्धतियों का बड़ा सुन्दर मेल है। वे बड़े कलात्मक ढंग से काठ की बनाई जाती हैं। इन पुतलियों को चलाने की पद्धति जटिल और रोचक है। हर पुतली की डोरी एक बड़े से लोहे के छल्ले से लगी होती है जिसे पुतली चलाने वाला अपने सिर पर मुकुट की तरह पहन लेता है और हाथ में दो छड़ियों की सहायता से पुतलियों के हाथों को चलाता है।

छड़ी पर चलने वाली पुतलियों की परम्परा सिर्फ पश्चिमी बंगाल में बची है जिसे वहाँ पुतुलनाक कहा जाता है। ये पुतलियाँ यथार्थवादी शैली में बनाई जाती हैं और इनकी वेशभूषा जात्रा नाटकों जैसी होती है। इन पुतलियों को चलाने का ढंग बड़ा दिलचस्प और बहुत नाटकीय है। एक बाँस



का पहिया जैसा चलाने वाले की कमर में कसकर बाँध दिया जाता है जिस पर पुतली की छड़ रख दी जाती है और पुतली के हाथ डोरियों से बंधे होते हैं। पुतली चलाने वाले एक परदे के पीछे खड़े होकर बड़े नाटकीय ढंग से हिलते और नाचते हैं और इस प्रकार पुतलियों में भी वैसी ही गतियाँ होने लगती हैं।

पुतली नाटक के दूसरे रूपों के समान दस्ताना पुतलियों की परम्परा भी बहुत पुरानी है। इस शैली के पुतली नाटक उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और केरल में प्रचलित हैं। उत्तरप्रदेश में तो इनका कथानक सामाजिक होता है और उसमें प्रायः देवरानी-जेठानी के झगड़े दर्शाए जाते हैं। उड़ीसा में इनका कथानक राधा-कृष्ण का प्रेम-प्रसंग होता है। उड़ीसा शैली में पुतली संचालन बहुत ही रोचक और नाटकीय होता है। पुतली चालक घुटनों के बीच ढोलक दबाकर ज़मीन पर बैठता है और संवाद गान करता हुआ एक हाथ से तो पुतली नचाता है और दूसरे से ढोल बजाता है। केरल में दस्ताना पुतली के कथानक कथकली नाटकों के ही होते हैं और वैसी ही पोशाक और संगीत भी।

इस नाट्य प्रकार को उड़ीसा में रावण छाया कहते हैं, क्योंकि यह माना जाता है कि देवता होने के कारण राम की छाया नहीं पड़ती। रावण छाया नाटकों में मध्ययुगीन उड़िया कवि विश्वनाथ कुंथिया की विचित्र रामायण के आधार पर रामकथा ही दिखाई जाती है। ये पुतलियाँ हिरण की खाल की बनती हैं। उनका रूप अधिक आदिम है और उनकी भंगिमाएँ भी अधिक तीखी और नाटकीय हैं। ये पुतलियाँ पारदर्शी नहीं होती और परदे पर काली सिलहूट जैसी छायाएँ डालती हैं। आवश्यक परिवेश दिखाने के लिए पेड़, पहाड़, रथ आदि उपकरणों का भी व्यवहार होता है।

रावण छाया की पुतलियाँ आकार में छोटी होती हैं और उनके कोई जुड़वाँ अंग नहीं होते, पर उनकी छायाएँ बड़ी कलापूर्ण और काव्यात्मक होती हैं।

अब कठपुतलियों की वह परम्परा, वह स्थिति और वह प्राणवत्ता नहीं रही। बदले सन्दर्भ में कठपुतलियों का प्रदर्शनधर्मों रूप-स्वरूप भी बदला और वह सज्जा की वस्तु बनकर रह गई हैं। किसी कला-रूप का गौरवशाली अतीत होना ही पर्याप्त नहीं है, उसका वर्तमान भी उतना ही उन्नत और गौरवशाली होना जरूरी है, अन्यथा वह अतीत अश्रु-गाथा का रुदन मात्र रह जाएगा। अपनी धरोहर को संरक्षित रखते हुए उसे सुललित एवं सुवासित करने की आज अधिक आवश्यकता है।

भांडभड़ैती (बहु रूपियों के स्वाँग) - वे स्वाँग, जिनका प्रदर्शन शौकिया न होकर व्यावसायिक दृष्टि लिए होता है, भांडभड़ैती के रूप में जाने जाते हैं। इनमें बहु रूपियों की स्वाँग-झाँकियाँ, कच्छीघोड़ियों के प्रदर्शन तथा भवाइयों की कलाबाजियाँ मुख्य हैं।

बहु रूप धारण कर जनजीवन का स्वस्थ मनोरंजन करने वाला बहु रूपिया कहलाता है। इसे भांड भी कहते हैं जिसका अर्थ भांडाई करने से है। यह बड़ा वाचाल, व्यंग्यक, विनोदी, हँसोड़, हाजिरजवाबी तथा अपने कला-करिश्मे में पारंगत होता है। यह बहु रूपिया कहाँ नहीं रहा। राजा-महाराजाओं और बादशाहों के दरबार बहु रूपियों के बिना कभी सूने नहीं रहे। ठिकानेदारों और जागीरदारों तक ने बहु रूपियों को सदा प्रसन्न रखा। कठपुतली खेल तक में बहु रूपियों के कमाल मिलते हैं। वह अपने स्वाँगों द्वारा सबका प्रतिनिधित्व करता है। छत्तीसी कौम के भेष निकालने में वह माहिर होता है। उसका भेष



नकल होता है, किन्तु असल को भी मात देने वाला होता है। आदमियों की जमात तो ठीक, यदि बंदरों की जमात में भी कोई बहुरूपिया बंदर बनकर पहुँच जाएगा तो बंदरों को यह कतई आभास नहीं होगा कि यह कोई गैर जात का स्वांगीड़ा (स्वाँगकर्ता या स्वाँग करने वाला) है। वैसे के वैसे हाव-भाव, बोली-चाली, रहन-सहन, खान-पान, वेश-विन्यास, सज्जा लिए हूबहू हमशकल होकर अपना मंतव्य पूरा कर आएगा। ऐसा माना जाता है कि बहुरूपिया अथवा भांड अपने मूल में राजस्थान के ही निवासी रहे। अन्य प्रदेशों के रूपधारी जो रूपविन्यास धारण करते हैं उनकी ठेठ संस्कृति में राजस्थानी परम्परा और समृद्ध विरासत के दर्शन मिलते हैं। इस सम्बन्ध में इसु याज्ञिक का यह कथन उल्लेखनीय है- मनोरंजन करने वाली जातियों के समुदाय में एक जाति भांडों की भी है। ये भांड समूचे पश्चिम भारत से लेकर मध्यप्रदेश, बिहार, बंगाल तक पाए जाते हैं। गुजरात के सौराष्ट्र और कच्छ में इनके डेढ़ सौ के लगभग परिवार हैं जो राजकोट, गोडल, जूनागढ़, पालीताणा, मारवाड़ से आए इन लोगों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही हैं।

ये लोग मूलतः क्षात्रधर्मी हैं जो युद्ध में जोश दिलाने के लिए वीर रस की रचनाएँ गाते थे और विरूदावलिआँ रच-गाकर दाता को खुश करते थे। बाद में इन्होंने तरह-तरह के बहुरूपिया भेष बनाकर लोगों का मनोरंजन करने तथा ढोलक के साथ गाने-बजाने को अपनी जीविका का साधन बना लिया। भांड पुरुष गले में मोती के दाने की माला और कान में मोती पहनते हैं। इनके नाक-कान छिदे होते हैं ताकि स्त्री भेष बनाते समय उनमें स्त्रियों के आभूषण पहन सकें। ये गाल फुलाकर और पशु-पक्षियों की आवाज़ निकालकर बालकों को हँसाने की चेष्टा भी करते हैं।

राजसमंद जिले के केलवा गाँव के बहुरूपिए परसराम भांड अपनी बहुरूपी कला के अद्वितीय कलाकार रहे।

गवरी लीला - गवरी भीलों का मूल नाट्य है। शिव-भस्मासुर की कथा इसका मुख्य आधार रहा है। यह प्रति तीसरे वर्ष ली जाती है। रक्षाबंधन के दूसरे दिन बाद ठंडी राखी से प्रारम्भ होकर इसके प्रदर्शन लगातार सवा महीने तक चलते रहते हैं। गाँव का कोई चौराहा, तिराहा अथवा खुला स्थान या कोई देवस्थल इसका रंगमंच होता है जहाँ दिन-भर इसका अभिनय चलता रहता है।

गौरज्या अथवा गवरज्या भीलों की आराध्य देवी कही जाती है। सभी प्रकार के रोग, शोक, दुःख, दर्द तथा दुर्भिक्ष को मिटाकर सुखशान्ति तथा समृद्धिदात्री देवी के रूप में भील लोग प्रति रविवार इसकी पूजा करते हैं। गवरी लेने की स्वीकृति भी देवी गवरज्या से ही लेनी पड़ती है। 'पधारो आईनाथ, पधारो जोगमाया, पधारो अन्नदाता' जैसे सामूहिक उच्चारण कर भील देवी को बुलाते हैं। देवी रमती-कूदती भोपे के शरीर में आती है। भील लोग पाती (वृक्षपात के रूप में स्वीकृति) प्राप्त कर गवरी की तैयारी में लग जाते हैं। मुहूर्त के अनुसार 'गाबा पेरवा रो मोरत' धारण करने के, गवरी की पोशाक का मुहूर्त के दिन से लेकर गवरी नचाने वाले भील देवी के वहाँ जाकर गवरी समाप्ति तक संयम से रहने, माँस, मदिरा तथा हरी सब्जी का त्याग करते हैं, शपथ लेते हैं।

जिस गाँव में गवरी ली गई है, प्रारम्भ के तीन दिन तक गवरी उसी गाँव में नचाई जाती है। इन तीन दिनों के अलावा भादवी बीज, डोल ग्यारस तथा अन्तिम दिन की वलावण की गवरी भी उसी गाँव में प्रदर्शित की जाती है। शेष दिन जहाँ-जहाँ उस गाँव की कन्याएँ ब्याही हुई होती



हैं, वहाँ उनके निमंत्रण पर गवरी का आयोजन किया जाता है। प्रत्येक कन्या अपने गाँव की गवरी नचाना अपना धार्मिक कर्तव्य समझती है। यह दिन विशेष उमंग तथा चहल-पहल का रहता है। आस-पास की जनता भी देखने के लिए उमड़ पड़ती हैं। इस दिन हाथी की विशेष सवारी भी निकाली जाती है। कहीं-कहीं हाथी के साथ-साथ शेर की झाँकी भी निकाली जाती है। एक व्यक्ति को उसके सारे शरीर पर सिन्दूर की टपकियाँ लगाकर शेर बना लिया जाता है। उसके मुँह में एक नकली जीभ लगी रहती है जो बाहर लटकी दिखाई जाती है। हाथी की इसके साथ लड़ाई प्रदर्शित की जाती है।

अन्त में रात्रि को सभी भील बाबा-जोगी-साधु का रूप धारण करते हैं। अपने शरीर पर भस्मी लगाकर रुई के काकड़े जला सभी कतारबद्ध खड़े हो जाते हैं। यह अवसर उनके नाचने-कूदने का भी होता है। कहीं-कहीं इस रात रतिजगा के भारत भी गाए जाते हैं। ये 'राई मण्डल के भारत' कहलाते हैं। इस समय रीछड़ी, मिरगा, नीमा आदि की झाँकियाँ भी निकाली जाती हैं। भारत शिव-पार्वती तथा पाण्डवों से सम्बन्धित होते गाथा-रूप हैं। अन्तिम दिन गवरी विसर्जित की जाती है। यह दिन गवरी का वलावण का होता है। इस दिन प्रत्येक गवरी दल अपने-अपने कुम्हार के घर जाकर समारोहपूर्वक मिट्टी का मंगल हाथी लाता है। यह हाथी शिव जी का प्रतीक होता है। कहा जाता है कि शिव जी ने जब भस्मी कड़ा भस्मासुर को दे दिया तो वह शिव जी को ही भस्म करने के लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ा। तेज दौड़ते हुए भस्मासुर के हाथ से कड़ा गिर गया और वह उससे बहुत आगे निकल गया। पीछे से एक गाडरी ने जोर से आवाज़ मारी-ठर्रे (ठहरजा)। इससे भस्मासुर तो भागता

बना, पर कड़े ने समझा कि वह उसे ठहर जाने के लिए कह रहा है। अतः वह स्थिर हो गया। पीछे से शिव जी ने आकर उसे अपने हाथ में पहन लिया और हाथी बनकर पास ही के तालाब में अंतर्धान हो गए।

ऐसी मान्यता है कि वलावण के दिन शिव जी के रूप में हाथी को पानी में विसर्जित किया जाता है। दिन-भर गवरी के खेल प्रदर्शित करने के बाद शाम को मुहूर्त के अनुसार हथी लाने का संस्कार पूरा किया जाता है। यह हाथी मिट्टी से बाजोट पर बनाया जाता है। यह ठीक हाथी जैसा ही दो-ढाई फीट की ऊँचाई लिए होता है। वैसे ही पाँव, वैसे ही कान, वैसे ही सूंड, वैसे ही पूँछ और वैसे ही डीलडौल। उसकी पीठ पर कंठला बनाया जाता है। कंठले पर छतरी होती है और उस छतरी का घूमटा (गुम्बज) बना दिया जाता है। बाजोट के चारों ओर बाड़ी लगी रहती है। बाड़ी पर शहरपनाह बनाई जाती है। इसमें जवारे बो दिए जाते हैं। हाथी को काले रंग से भली प्रकार रंग दिया जाता है। उसके मस्तक पर आमने-सामने शेर कोर दिए जाते हैं। सूंड तथा दंतूलों पर हरे आसमानी मोर बिठा दिए जाते हैं। कानों पर भी मोर तथा तोते मांडे जाते हैं। सण के तागों की पूँछ बना ली जाती है। आभूषणों की जगह नकली आभूषण पहना दिए जाते हैं। इसी प्रकार पूरे हाथी को लाल-हरी, पीली पन्नियों तथा काँच के छोटे-छोटे टुकड़ों से सजा दिया जाता है। कंठले की भी भव्य सज्जा की जाती है और उसमें छोटे से शिव-पार्वती बिठा दिए जाते हैं। गवरी को विसर्जित करने के रूप में भील लोग पार्वती को उसके ससुराल भेजने का रस्म पूरा हुआ मानते हैं। इस अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं उनमें भी इस बात के संकेत मिलते हैं।



नकल - नकल उत्तरप्रदेश के नक्काल-भांडों का स्वाँग प्रधान नाट्य है। नाना प्रकार की कलात्मक नकलों के लिए नक्काल बड़े पहुँचे हुए होते हैं। कश्मीर, लखनऊ तथा बनारस में उनके खासे घराने हैं। नक्काल लोग बड़े हाजिरजवाबी, चुटकुलेबाज, मसखरे, प्रत्युत्पन्न मतिवाले तथा कई भाषाओं के जानकार होते हैं। महफिल में नकलें पेश करने के पहले ये लोग बारी-बारी से अपने घोड़े दौड़ाते हैं। उनकी कमर में घोड़ों की जीन की ही भाँति कमरपट्टे कसे-बंधे होते हैं। हिनहिनाते हुए मुख्य रूप से ब्याहशादी में ये लोग सर्वप्रथम मुबारकबाद के रूप में अपना घोड़ा दौड़ाते हैं।

इन घोड़ों में अफीम का घोड़ा, मिठाई का घोड़ा, फलों का घोड़ा तथा तरकारी का घोड़ा मुख्य है। घोड़ों के बाद ये नाना प्रकार की नकलें निकालते हैं जो महफिल में कहकहे पैदा कर देती हैं। इन नकलों में बरहमन, नाई, कहार, चाचा-भतीजा, मारवाड़ी, भटियारिन, कायस्थ, डोमनी, फकीर, कचहरी, धोबी, दीवानखाना, विवाह आदि की नकलें मुख्य हैं। ऐसा कहा जाता है कि नवाब नासिरुद्दीन हैदर (1813-1827 ई.) के समय में कश्मीरी नक्काल लखनऊ में आए। नवाब वाजिदअली शाह (1847-1857 ई.) के समय में यह कला अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। बनारस में सर्वप्रथम अजूबा नामक व्यक्ति ने भांड-मण्डली स्थापित की।

भगत - ब्रज का भगत स्वाँग प्रधान लोकनाट्य है। प्रारम्भ में मुख्यतः होली के दिनों में जो स्वाँग निकाले जाते थे उनमें भगत का विशेष प्रचार था। इसका आयोजन भगत लोग करते थे इसलिए यह संगीत प्रधान था और यह संगीत कीर्तनी संगीत के अधिक निकट था, परन्तु आगे जाकर ख्याल-उस्तादों के हाथों में पड़ने के कारण

इसका स्वरूप अखाड़ी ख्याल के रूप में परिणत हो गया। तुर्रा-कलंगी ख्यालों की बैठकी प्रणाली की भाँति अखाड़ा-खलिफाओं की दंगली पैचीदगियों में भगत के विभिन्न अखाड़े स्थापित हुए। आज यद्यपि भगत का अपना विशिष्ट स्वरूप है, परन्तु उसके प्रदर्शन का सारा पूर्वरंग अखाड़ी प्रणाली से ही रंगा हुआ मिलता है।

माच ख्यालों की भाँति भगत का जहाँ प्रदर्शन देना होता है उसके कुछ दिन पूर्व बल्ली का लड़ा स्थापित किया जाता है। यह लड़ा कड़ी कहलाता है। इसकी स्थापना विशेष पूजन के साथ सम्पन्न होती है। कड़ी के गड्ढे में ताँबे के पाँच पैसे, हल्दी की एक गाँठ, पाँच साबुत सुपारी तथा चावल आदि डाले जाते हैं। कड़ी को स्थापित कर उसके एक कोने पर हल्दी अथवा रोली से स्वस्तिक अथवा त्रिशूल बनाया जाता है। कड़ी की यह स्थापना गुरु द्वारा होती है। माच ख्यालों में यह कड़ी खम्भ कहलाता है। इसकी स्थापना भी गुरु के करकमलों द्वारा की जाती है। पूजन सामग्री में धनिया, गुड़, अमरवल्लरी, आम के पत्ते तथा लाल वस्त्र प्रयुक्त किए जाते हैं। पूजन की मांगलिक वेला में ढोलक का बजना शुभ समझा जाता है। तुर्रा-कलंगी ख्यालों में भी इसी प्रकार की एक बल्ली रोप दी जाती है जिस पर अखाड़े विशेष की झण्डी फहराई जाती है।

सामान्यतया भगत का मंच आठ फीट ऊँचा होता है। आवश्यकतानुसार यह मंच एक रूखी अथवा दो रूखी बनाया जाता है। माच-मंच की तरह इसे भी रंग-बिरंगी पन्नियों, लाल-पीले टुकड़ों, आम के पत्तों की झालरों तथा भाँति-भाँति के फूलों की वन्दनवारों से सजाया जाता है। यह चारों ओर से खुला रहता है। एक रूखी मंच पर एक ही संवाद दो बार तथा दो रूखी पर चार बार बोला जाता है। खेल की सूचना के लिए निमन्त्रण भेजा



जाता है। यह निमन्त्रण अभिनेता विभिन्न अखाड़ों में इलायची देकर तथा स्वाँग सवारी निकालकर देते हैं। प्रदर्शन के पूर्व घी का चैमुख अखण्ड दीप जलाया जाता है। इसके बाद हवन किया जाता है। तदनन्तर सभी मिलकर गणपति पूजा, इष्ट महिमा तथा देवी भवानी की स्तुति में चरजाएँ गाते हैं तब मुख्य खेल प्रारम्भ होता है। खेलों के विषय धार्मिक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथा-आख्यानों से सम्बन्धित होते हैं। राजस्थानी ख्यालों में हलकारे की भाँति भगत में कथा का वर्णन रंगा करता है तथा आगे आने वाली घटना की सूचना देता है। कभी-कभी यह खेल के बीच में स्वाँग लाकर भी दर्शकों को लोट-पोट कर देता है। भगत के संवाद जवाब कहलाते हैं। ये जवाब दोहा, चौबोला, कड़ा, उड़ान तथा दोड़ में गूँथे होते हैं। प्रदर्शन के अन्त में कढ़ाई की रस्म की जाती है। इसके अन्तर्गत एक कढ़ाई में हलवा और उबले हुए नमकीन चने देवी-देवता के रूप में कन्या एवं लांगुराओं को खिलाए जाते हैं। इस क्रिया द्वारा प्रारम्भ में निर्विघ्न प्रदर्शन हेतु जिन देवी-देवताओं को आमन्त्रित किया जाता है उन्हें आदरपूर्वक विदाई दी जाती है।

ब्रज में भगत दो रूपों में प्रचलित है। पहला हाथरस की भगत तथा दूसरा आगरा की भगत। हाथरस की भगत के प्रेरक सुप्रसिद्ध खिलाड़ी नत्थाराम रहे हैं। यह भगत छोटी तान के चौबोलों के लिए प्रसिद्ध है। भगत का यह रूप व्यावसायिक है। आगरा की भगत शौकिया रूप लिए है। इसके पीछे दंगली गायकी की परम्परा रही है। यह प्रायः अखाड़ा में ही प्रदर्शित होती है। इसमें लम्बी तान के चौबोले चलते हैं। आगरा में इसके लगभग पन्द्रह अखाड़े हैं। भगत का सूत्रधार खलीफा कहलाता है। आगरा में अलग-अलग भगत अखाड़ों के अलग-अलग खलीफा हैं।

खलीफा बनने के लिए नट को किसी गायकी विशेष में खलीफाओं को पूर्णतया प्रभावित करना पड़ता है। जब सभी खलीफा उसके लिए अपनी सही दे देते हैं तब ही पगड़ी बाँधने की विशेष रस्म अदा कर उसे खलीफा घोषित कर दिया जाता है।

भांडपर्थ - भांडपर्थ कश्मीर का बहुपात्री नाट्य है जो मुसलमान अभिनेताओं द्वारा अभिनीत होता है। यह भांड तथा पथ नामक दो शब्दों से बना है। भांड शब्द संस्कृत के भाण का अपभ्रंश है जिसका अर्थ व्यंग्यात्मक नाटक का एक भेद होता है। पर्थ का अर्थ पात्र से है। इन नाट्यों के लिए जो रंगशाला काम में ली जाती है उसे भांडजशन कहते हैं और भांडजशन पर जो नाटक अभिनीत किए जाते हैं वे पर्थ कहलाते हैं। भांडजशन का प्रयोग रंगशाला के साथ-साथ नाट्यशैली के रूप में भी किया जाता है। इस नाट्यशैली को जन्म देने का श्रेय सफेद भांड नामक एक कलाकार को है। भांडपर्थ में अधिकतर सामाजिक कुरीतियों का भण्डाफोड़ रहता है। प्रतीकों के माध्यम से असत्य पर सत्य की विजय का संदेश देकर समाज में सदाचारी वृत्तियों का विकास करना ही इसका मुख्य लक्ष्य है।

इसके प्रवेश नृत्य में बादशाह रंगशाला में आता है। उसके पीछे-पीछे उसके दरबारी, एक ज़मींदार, सेनापति, सिपाही इत्यादि होते हैं। प्रत्येक पात्र की गति और चलने की भंगिमा उसके चरित्र को व्यक्त करती है। उनकी हस्तमुद्राओं में कुछ शास्त्रीयकरणों के चिह्न भी दिखाई देते हैं। प्रवेश करने के बाद पात्र जोड़ियों में दोनों तरफ घूम जाते हैं। प्रत्येक पात्र के हाथ में कपड़ा होता है जिसे पल्लव कहते हैं। उसके बाद सब पात्र वृत्त बनाकर खड़े हो जाते हैं।



पूर्वी भारत के प्रमुख लोकनाट्य

बिदेसिया - 'बिदेसिया' बिहार का सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्य है। इसके आदि प्रवर्तक गुद्धरराय थे, लेकिन इसे अखिल भारतीय चर्चा दिलाने का श्रेय अकेले भिखारी ठाकुर को दिया जा सकता है। भिखारी ठाकुर लोकगीतों के ऐसे गव्वैया हैं, जिनकी स्वर लहरियों पर बिहार राज्य का हर जन दीवाना हो उठता है। अनगिनत स्थानों पर उनकी मण्डलियों ने अपना प्रदर्शन कर लोगों का दिल जीता है। 'बिदेसिया मंच' की कोई रूपरेखा या आकार नहीं होता। तख्त डालकर साधारण मंच बना दिया जाता है। जिस पर चँदोवा डाल दिया जाता है। कहीं-कहीं पर यह खुला भी रह जाता है। वेशभूषा और रूप-सज्जा क्षेत्रीय जन प्रकृति के अनुरूप होती है। वाद्ययंत्रों में तबला, झाल, बाँसुरी, गोपी मंत्र होते हैं। समाजी (वादक गण) पात्र द्वारा कहे बोल को अभिनय के साथ दुहराते हैं। स्त्री पात्र की भूमिका पुरुष ही करते हैं।

इस लोकनाट्य के बोल ग्रामीण हृदय की गहराई तक पहुँचते हैं और उनके सुर की युक्ति, तर्क या अश्लील-श्लील विवेचन द्वारा नहीं, केवल अनुभूति के सहारे आस्वादन करना पड़ता है। सरल, सहज और आडम्बरहीन सौजन्य से युक्त अभिनय दर्शकों के मन को सहज ही छू लेता है। हिन्दी भाषी इलाके की समस्याओं और कुरीतियों का आईना है यह लोकनाट्य एवं भिखारी ठाकुर जनता के लोकप्रिय गायक हैं जिन्हें सुनकर जन-समुदाय उमड़ने लगता है।

मनोरंजन के साथ-साथ भिखारी ठाकुर ने स्वस्थ समाज की रचना में भी बड़ा योग दिया। बाल-विवाह, विधवा-विलाप, नन्द-भौजाई, पुत्र-वधू, पिता-हत्या तथा नाई की पुकार जैसी सशक्त नाट्य-कृतियों के माध्यम से समाज में व्याप्त

भ्रष्टाचार, अनैतिकता तथा कुरीतियों पर उन्होंने जमकर कुठाराघात किया। बिदेसिया उनका सर्वाधिक चर्चित नाटक है। उसमें एक विदेशी, विदेश में किसी वेश्या के चंगुल में पड़कर अपने परिवार को छोड़ बैठता है। उसके परदेश चले जाने पर उसकी नवपरिणिता उसके विरह में व्याकुल हो अपनी मनःस्थिति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत करती है। इसमें विदेश का अर्थ है कलकत्ता और बिदेसिया है उसका पति। बिदेसिया नामक यह नाटक जन-जन में इतना अधिक प्रचारित हुआ कि कालान्तर में भिखारी ठाकुर द्वारा प्रदर्शित अन्य नाटक भी बिदेसिया नामक नाट्य-शैली के रूप में प्रचारित हुए।

बिदेसिया में बाँस के खम्भों से दस-बारह फुट ऊँचा मंच बनाया जाता है। यह मंच चौकियों को जोड़कर बनाया जाता है जो चारों ओर से खुला होता है। प्रदर्शन का प्रारम्भ भवानी वन्दना से होता है। नगाड़ों की चोट के साथ अभिनेता जब चौकी मंच पर कूद-फांद करते हैं तो एक अजीब-सी ध्वनि पैदा होती है इसलिए बिदेसिया को बिदेसिया नाच के अतिरिक्त 'चौकी तोड़ नाच' भी कहते हैं। राजस्थान में भी इसी प्रकार शेखावाटी के ख्याल तख्तातोड़ नाच के नाम से प्रसिद्ध हैं।

बिदापत - उत्तर बिहार के आंचलिक नाट्यों में बिदापत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक अमंचीय नाट्य है जो दर्शकों के बीच लीलास्थली में ही कर लिया जाता है। इसके अभिनेता प्रायः हरिजन वर्ग के श्रमजीवी होते हैं। कई बातों में यह नाट्य अंकिया तथा कीर्तनिया से मिलता-जुलता है। इसका नायक मूलगाइन कहलाता है। अंकिया का प्रधान गायक भी मूलगाइन ही होता है।

बिदापत शब्द विद्यापति का अपभ्रंश है। इसी शब्द से इस शैली का सूत्रपात हुआ। प्रारम्भ में



इसमें विद्यापति के लिखे नाटक प्रदर्शित किए जाते थे। आज भी सभी नाटकों में प्रारम्भिक भगवती-वन्दना विद्यापति की ही रचित होती है। पारिजातहरण इस विधा का मुख्य नाटक है। यद्यपि यह विद्यापति का लिखा नहीं है, परन्तु इसमें जब राधिका और उनकी सखियों का रास दिखाया जाता है, तब जो पद गाए जाते हैं वे विद्यापति रचित ही हैं। इसका अभिनय स्थल रंगस्थली कहलाता है। यवनिका उत्थापन पर मृदंग एवं खोल पर सामूहिक वदन होता है। यह वादन लम्बे समय तक बड़े जोरों से चलता है। इसे यहाँ की बोली में जमीनिका कहते हैं जो निश्चय ही यवनिका का अपभ्रंश है। प्रत्येक नाट्य-प्रदर्शन के पूर्व भगवान् की नृत्यलीला मांगलिक समझी जाती है।

बिदापत में विदूषक का बड़ा महत्त्व है। यह बेसिर पैर की बातें करने वाला बेजोड़ हँसैया होता है जो अपने कला-करिश्मों से दर्शकों में खलबली मचा देता है। पूर्वरंग में सूत्रधार और पारिपाश्र्विक नान्दीपाठ के पश्चात् जब एक-दूसरे की वार्ता प्रारम्भ होती है तब अनायास ही विदूषक टपक पड़ता है आ जाता है और अपनी बेलगाम बातों से सभी को खिलखिला देता है। प्रस्तावना के समय भी यह कई उल्टी-सुल्टी मनमोहिनी बातें कर प्रदर्शन में चार चाँद लगाता है। पूर्णिया जिले की यह नाट्य शैली अपने सीमित प्रभावों के कारण अधिक चर्चित नहीं हो पाई, परन्तु नाट्य-तत्त्वों की दृष्टि से पारम्परिक नाट्यों की यह एक वजनी विधा है।

जात्रा - जात्रा बंगाल की सशक्त नाट्य विधा है। इसकी परम्परा लगभग एक हजार वर्ष पुरानी है। प्रारम्भ में भक्त लोग मण्डलियाँ बना-बनाकर अपने उपास्यदेव की नानाविधि लीलाएँ करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान जाया करते थे। यह

यात्रा ही जात्रा कहलाती थी और यही जात्रा का प्रारम्भिक स्वरूप था। बाद में पूर्वी भारत के कृष्णभक्ति आंदोलन का इस पर प्रभाव पड़ा। इसलिए इसमें भगवान् कृष्ण की वृंदावन से मथुरा तक की यात्रा प्रदर्शित की जाने लगी और वही यात्रा का प्रमुख विषय बन गया। 18वीं शताब्दी में इसे पारम्परिक नाट्यविधा के रूप में मान्यता प्राप्त हुई और पौराणिक कथाओं के साथ-साथ प्रेमकथाओं का भी समावेश होने लगा, लेकिन जात्रा का कभी एक रूप रहा ही नहीं। ज्यों-ज्यों परिस्थितियाँ बदलती गईं और जनजीवन उनसे प्रभावित होता गया, त्यों-त्यों जात्रा के विषय भी परिवर्तित होते गए। ऐतिहासिक विषयों के अतिरिक्त देशभक्ति, राष्ट्रीय आंदोलन, असहयोग आंदोलन, समाज सुधार, जाति प्रथा, अस्पृश्यता निवारण से सम्बन्धित अनेकानेक विषयों ने जात्रा को प्रभावित किया।

बंगाल की प्रथम जात्रा विद्यासुन्दर जात्रा कही जाती है। गीतों की अधिकता होने के कारण जात्राएँ संगीत प्रधान होती हैं। अतः जात्रा-गायकों के लिए बुलन्द आवाज़ तथा सुरीला कण्ठ होना अत्यावश्यक है। संगीत की इसी प्रधानता के कारण जात्रा के लिए जात्रा सुनने का मुहावरा प्रचलित है, देखने का नहीं।

जात्रा का अभिनय खोल और मृदंग के साथ गायकों के सामूहिक गीत पर चलता है। समस्त गायक चोंगा नामक श्वेत वस्त्र पहनकर मंच पर उतरते हैं। यह मंच खुली हुई उन्नत भूमि पर अथवा किसी मन्दिर के ऊँचे चबूतरे पर निर्मित होता है। पौराणिक नाटक में नांदीपाठ की भाँति यात्रा में गौर चन्द्रिका का गायन उसी प्रकार होता है जिस तरह उत्तर भारत के लोकनाट्यों में देवताओं की स्तुति और गुरु की वन्दना। गौर



चन्द्रिका का विषय गौरांग प्रभु चैतन्य की वन्दना से सम्बन्धित होता है। जात्रा के अभिनेता अधिकारी के नेतृत्व में काम करते हैं। अधिकारी ही उनका निर्देशक और प्रधान नायक होता है। जिस प्रकार महाराष्ट्र के पण्डों में सरदार का अस्तित्व है उसी तरह जात्रा में अधिकारी का। उड़ीसा में पटुवा जाति के लोग भी अपने आराध्य की आराधना में जात्रा करते हैं। इसमें नृत्यनायिका रावतानी का वेश उल्लेखनीय है।

अंकियानाट - अंकिया आसाम का एक रात्रि नाट्य है। एक अंकी होने के कारण इसका नाम अंकिया पड़ा। इसका प्रवर्तन शंकरदेव ने किया। वैष्णव मठों की स्थापना के साथ-साथ प्रत्येक मठ-ब्रह्मचारी के लिए जो सामान्य नियम निर्धारित थे उनमें एक नियम अंकिया नाट में भाग लेने का भी था। अतः अंकिया एक प्रकार से असम के सत्रों और मठों में प्रदर्शित होने वाला मठ-नाट्य है।

अंकिया प्रदर्शन के लिए त्रिदिवसीय मंच काम में लिया जाता है। यह मंच बढ़िया मण्डप से सजाया जाता है। इसमें नायक एवं नायिका के लिए अलग-अलग अट्टाली बनाई जाती है। यह अट्टाली एक-दूसरे के आमने-सामने होती है। इन दोनों के बीच सिंहासन होता है। राजस्थान के तुरी-कलंगी ख्यालों में भी रानी पात्र के लिए इसी प्रकार की अट्टाली बनाई जाती है। अंकिया में गद्य का बाहुल्य रहता है। गीत रागबद्ध होते हैं। पूर्वरंग पृष्ठभूमि में गायन वादन। तत्पश्चात् सूत्रधार नृत्यमय अदायगी में नांदी गीत प्रस्तुत करता है। सूत्रधार सर्वाधिक पारम्परिक प्रभाव लिए होता है। उसकी वेशभूषा भी ठेठ पारम्परिक होती है। सफेद पाजामा चूड़ी कहलाता है। जामा गाठीसेला और कमरबन्द गाठीकापड़। पगड़ी का बंधज देखते ही बनता है। प्रत्येक पात्र के प्रवेश की

सूचना सूत्रधार ही देता है और नाट्य समाप्ति के बाद भरतवाक्य के सदृश्य मंगलगान भी वही करता है।

अंकिया का मंच भाओनाघर कहलाता है। इस पर एक ओर गायन मंडली रहती है। वाद्यों में झांझ तथा नगाड़े प्रयुक्त किए जाते हैं। मुख्य वादक बड़बायन और मुख्य गायक बड़गायन कहलाता है। मण्डली के लिए गायन-बायन शब्द काम में लिया जाता है। यवनिका के लिए आड़कापड़ तथा सज्जागृह के लिए छघर शब्द प्रचलित है। अंकिया में मुख्यतः कृष्ण और राम से सम्बन्धित पौराणिक नाटक प्रदर्शित किए जाते हैं। इनमें शंकरदेव लिखित 'रुक्मिणीहरण', 'कालीयदमन', 'केलिंगोपाल', 'पारिजातहरण', 'सीतास्वयंवर' तथा 'रामविजय'; माधवदेव रचित 'अर्जुनभंजन', 'रासझूमर' तथा 'भूमिलेटोवा' एवं गोपालदेव प्रणीत कृष्णजन्म तथा उन्हें नन्द के यहाँ पहुँचाने से सम्बन्धित 'जन्मयात्रा' नाटक प्रमुख हैं।

नाचा - नाचा छत्तीसगढ़ का प्रमुख लोकनाट्य है। छत्तीसगढ़ के रायपुर, धमतरी, महासमुन्द, दुर्ग, राजनांदगाँव आदि जिलों में नाचा व्यापक रूप से प्रचलित है। नाचा अपने आप में एक पूर्ण विद्या है। नाचा का उद्भव खड़े साज की गम्मत से हुआ है जो मराठा छावनियों में सैनिकों के मनोरंजन का साधन थी।

मराठी के तमाशा एवं छत्तीसगढ़ी के नचा दोनों का ही उद्भव मराठा छावनियों की गम्मत से हुआ है। तमाशा ने महाराष्ट्र की लोक परम्पराओं को अपनाकर, अपने नाट्य स्वरूप का विकास किया है, तो वहीं दोनों ओर नाचा ने छत्तीसगढ़ क्षेत्र की लोक परम्पराओं को ग्रहण कर अपने नृत्य स्वरूप का विकास किया। उड़ीसा पर आक्रमण करने जब नाट्य सेना जा रही थी, तब मार्ग में



पड़ने वाली छत्तीसगढ़ की राजधानी रतनपुर को भी उसने अपने अधीन कर लिया। मराठों ने अपने प्रशासन हेतु छत्तीसगढ़ में दो स्थानों पर अपने अधिकारी नियुक्त किए। एक बिलासपुर एवं दूसरा रायपुर में।

गम्मत में स्त्रियों की नकल करने वाला एक विशेष पात्र होता था जिसे नाच्या कहते थे। इसी पात्र के आधार पर छत्तीसगढ़ी नाट्य स्वरूप का नाम 'नाचा' पड़ा। 'नाच्या' मराठी तमाशे के एक अन्य पात्र सांगोड्या से भिन्न है। वर्तमान में भी तमाशा में नाच्या और सांगोड्या के समानान्तर एक नए पात्र का उद्भव हुआ जो जोक्कड़ कहलाता है।

नाचा नाट्य की क्षमता और सम्भावना का विलक्षण उपयोग हबीब तनवीर ने किया है। संस्कृत नाटक मृच्छकटिक से लेकर शेक्सपियर और ब्रेख्त के नाटकों तक का मंचन नाचा शैली में करके नाचा को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। छत्तीसगढ़ के ग्रामीणों में भरपूर शिष्ट हास्य मौजूद है, जो नाचा में सहज रूप से प्रकट है। छत्तीसगढ़ के ग्रामीण बहुत अच्छे बातूनी हैं और अपनी मुहावरेदार भाषा में घण्टों बातें करते रहते हैं। यह गुण नाचा के पात्रों द्वारा बोले जाने वाले संवादों में भी सहज ही प्रकट होता है। भारत के अनेक लोकनाट्य जहाँ एक ओर इलेक्ट्रानिक मीडिया के आक्रमण से लगभग नष्ट होने के कगार पर पहुँच गए हैं। वहीं छत्तीसगढ़ की जनता में नाचा के प्रति आज भी गहरा आकर्षण और अनुराग बना हुआ है।

दक्षिण एवं पश्चिम भारत के प्रमुख लोकनाट्य

दक्षिण भारत के प्रमुख लोकनाट्य

यक्षगान - 'यक्षगान' दक्षिण भारतीय लोकनाट्य का वह प्रकार है जो तमिल, तेलुगु तथा कन्नड़ भाषा-भाषी क्षेत्र की ग्रामीण जनता में प्रचलित है। तेलुगु में इसे 'विथि' या 'विथिभागवतम्' कहते हैं। यक्षगान की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह नृत्यनाट्य (डांस ड्रामा) है जिसमें गीतबद्ध संवादों का प्रयोग होता है। इसमें वर्णन का प्राधान्य होता है। इसकी कथावस्तु रामायण, महाभारत और भागवत से ली जाती है।

यक्षगान कर्नाटक का एक लोक रंगमंच रूप है जो कि संस्कृत रंगमंच या नाटक की कई परम्पराओं और परम्पराओं से सम्बन्धित एक प्राचीन कला का अनुकरण है, विशेष रूप से पुरुरवांग और वर्ण, विदुष्का के अस्तित्व का। कर्नाटक, आंध्रप्रदेश और तमिलनाडु में यक्षगान रूप विकसित हुआ। यक्षगान के मूल रूप में कविता के गायन के तरीके, संगीत की धुन, लय और नृत्य तकनीक, रंगीन वेशभूषा और सुन्दर श्रृंगार शामिल हैं। यह स्पष्ट रूप से संस्कृत चरण के मानदण्डों से कई मायनों में भिन्न है, क्योंकि इसमें हाथ और आँखों के इशारों की अत्यधिक विस्तृत भाषा नहीं है, लेकिन यह आंध्रप्रदेश और तमिलनाडु के निकटवर्ती राज्यों में साहित्य की घटनाओं से निकटता से सम्बन्धित है।

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में जब दक्षिण भारत में भक्ति-आन्दोलन का उदय हुआ तो उसका व्यापक प्रभाव लोक रंगमंच पर पड़ा। ऐसी कथाएँ प्रदर्शित की जाने लगी, जिसमें भगवान् की महिमा का गुणगान होता था। इसके लिए प्रदर्शन की विशिष्ट शैली का विकास हुआ इसी क्रम में कर्नाटक राज्य में 'यक्षगान' नाम के एक विशेष लोग-नाट्य का विकास हुआ। इस लोक नाटक की कथावस्तु के अंश रामायण, महाभारत और भागवत से लिए जाते हैं। खासकर वे प्रसंग चुने



जाते हैं जिसमें युद्ध का वर्णन हो। ये नाटक अन्त तक आते-आते विष्णु-भक्ति को जगाने वाले होते हैं। प्रदर्शन रात-भर चलता है। अगर एक कथा समाप्त हो जाती है तो दूसरी कथा भी समाप्त हो जाती है, लेकिन अगर कथा बड़ी हो तो उसे छोटा करके सूर्योदय से पहले खत्म कर दिया जाता है। यक्षगान के आरम्भ में दो बालक कृष्ण और बलराम की भूमिका में मंच पर आते हैं और पूरा प्रदर्शन देखते हैं। अन्त में उन्हें औपचारिक रूप से विदा किया जाता है।

चार खम्बों पर खड़ा यक्षगान का मंच मुक्ताकाशी होता है जिसके चारों ओर बैठकर या खड़े होकर दर्शक प्रदर्शन देखते हैं। मंच पर सामग्री के तौर पर एक नीची चैकी या फिर एक संदूक रखा रहता है जिसे आवश्यकतानुसार कभी आसन तो कभी सिंहासन के तौर पर उपयोग किया जाता है। मंच के एक-तरफ़ भागवत बैठता है। उसी के आस-पास वादक दल भी बैठता है। पूरे प्रदर्शन में भागवत केन्द्रीय महत्त्व वाला व्यक्ति होता है। ऐसा नहीं है कि लोक नाटकों की महत्त्वपूर्ण विशेषता, सूत्रधार इसमें नहीं होता है, लेकिन संस्कृत नाटकों में जो महत्त्व सूत्रधार का होता है वैसा महत्त्व भागवत का होता है। सूत्रधार तो प्रारम्भ में आकर बस सूचना देकर चला जाता है, जबकि भागवत आदि से अन्त तक मंच पर बना रहकर सम्पूर्ण नाटकीय कार्यक्रम का संचालन करता है। वस्तुतः वह प्रस्तोता और निर्देशक दोनों होता है। वही मूलपाठ का गायन करता है। नृत्य-लय का निर्देश देता है। उसकी प्रतिष्ठा मंच पर आचार्य रूप में होती है।

यक्षगान के मंच पर भागवत के अतिरिक्त एक अन्य पात्र 'हनुमन्नायक' या 'कोदंगी' होता है जो उसी की तरह अन्त तक उपस्थित रहता है। कोदंगी दर्शकों का प्रतिनिधि होता है भागवत से

प्रश्न-उत्तर करके विषय को स्पष्ट करता है और अपनी वाक्पटुता से दर्शकों को हँसाता रहता है इसलिए इसे 'हास्यागर' भी कहा जाता है। कभी-कभी वह अनर्गल बात भी करता है। कोदंगी ही पात्रों का परिचय करवाता है और कथा सूत्रों एवं प्रसंगों को आपस में जोड़ता भी है। वह आवश्यकता पड़ने पर संदेशवाहक आदि की छोटी-मोटी भूमिका भी करता है। प्रदर्शन की यह विशेषता लोक नाटकों की शक्ति होती है। अगर संस्कृत नाटक के चरित्रों से इसकी तुलना करें तो यह 'विदूषक' के करीब होता है, लेकिन यह विदूषक की भाँति कथावस्तु से जुड़ा न रहकर स्वतन्त्र होता है। इसलिए इसकी वेशभूषा और रूपसज्जा कहानी के युग की नहीं, बल्कि समसामयिक होती है।

यक्षगान के प्रदर्शन का आरम्भ भागवत और कोदंगी की विनोद-क्रीड़ा के साथ आरम्भ होता है। पहले पूर्वरंग की व्यवस्था होती है जिसमें विघ्नविनाशक गणेश जी के साथ-साथ अन्य देवी-देवताओं की स्तुति की जाती है। वेशभूषा और रूपसज्जा की सामग्री गणेश जी के सामने रखी जाती है और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है। उनके द्वारा भागवत और वादकों को उपहार भेंट किया जाता है और फिर मंच पर पात्रों का प्रवेश होता है।

यक्षगान में पात्रों का प्रवेश एक विशेष तरीके से होता है। पहले दो लोग एक कपड़े का टुकड़ा लेकर मंच पर खड़े हो जाते हैं। एक कलाकार पर्दे के आगे नृत्य करने लगता है और नृत्य करते करते पर्दे को थोड़ा नीचे झुका देता है एवं वह पात्र दर्शकों के आगे प्रकट हो जाता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक दृश्य के सभी कलाकर मंच पर आ नहीं जाते हैं। जब सभी कलाकर मंच पर आ जाते हैं तो पर्दा हटा दिया



जाता है। पर्दा हट जाने पर कोदंगी एक-एक पात्र का नाम लेकर बुलाता है और वह नृत्य करके मंच पर एक कोने में खड़ा हो जाता है। पात्र-परिचय में नृत्य की अनिवार्यता होती है। पात्र परिचय के बाद भागवत भूमिका रूप में कुछ पंक्तियों का गायन करता है। इस गायन के बाद कोई पात्र कथा सूत्र का स्पष्टीकरण करता है एवं भागवत उसके वक्तव्य के बीच में हुंकारी भरकर अथवा कोई अन्य चेष्टा करता रहता है।

यक्षगान के सभी चरित्र बहुत ही तड़कभड़क वाला और प्रभावपूर्ण वेशभूषा पहनकर मंच पर आते हैं। वेशभूषा में चटख रंगों का प्रयोग होता है, विशेषकर हरे, नीले और लाल रंगों का। कण्ठ और बाहों पर विशेष प्रकार के आभूषण होते हैं। संघर्षपूर्ण प्रसंग को प्रभावशाली दिखाने के लिए चरित्रों के वक्ष पर सुनहरा पट होता है, सिर पर चमकदार मुकुट होता है। भुजाओं पर पंखे के आकार का विशेष विन्यास होता है। दुष्ट आत्माएँ और दानवीय चरित्रों के लिए भयंकर मुखौटे का प्रयोग किया जाता है। दिव्य चरित्रों का रूप बहुत ही सौम्य होता है। कभी-कभी उनके लिए भी मुखौटे का प्रयोग किया जाता है। अर्धमानव जैसे गंधर्व आदि की रूपसज्जा भी बहुत ही मनमोहक होती है। वेशभूषा की यह विशिष्टता परम्परा से विकसित हुई है और रूढ़ हो चुकी है।

यक्षगान की संघर्षपूर्ण वस्तुयोजना खासकर देव-दानव युद्ध के चलते संवाद बहुत ही ओजस्वी होते हैं। युद्ध प्रदर्शन के चलते कभी-कभी किसी पात्र की मृत्यु दिखाना आवश्यक होता है तो उसे स्पष्ट नहीं दिखाकर नाट्यशास्त्र की रूढ़ि का पालन करते हुए उस पात्र को कपड़े की आड़ कर दी जाती है और वह मंच से चला जाता है। संघर्षपूर्ण वस्तुयोजना के चलते ही यक्षगान में स्त्री-चरित्रों को विशेष स्थान नहीं मिलता है।

यक्षगान में पात्रों को यह छूट होती है कि वे अपने संवाद प्रसंगानुकूल बना सकें। इसके लिए भाषा पर उनकी अच्छी पकड़ होना आवश्यक है। इसके साथ ही अपने चरित्र का मनोविज्ञान और अपने प्रतिपक्षी के मनोविज्ञान की समझ के साथ-साथ तार्किक होने की अपेक्षा की जाती है ताकि वे प्रसंग के अनुरूप वाणी-कौशल का उपयोग करके उपयुक्त उद्धरण दे सकें, मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग कर सकें।

कुटियाडम् - कुटियाडम् केरल का अति प्राचीन नाटक है। इसका अर्थ है मिला-जुला अभिनय। इसे प्रारम्भ करने का श्रेय केरल के राजा कुलशेखर वर्मन को है जिन्होंने संस्कृत नाटकों को जनसुलभ बनाने हेतु स्थानीय बोली में उनका अनुवाद कर उन्हें प्रदर्शित करने की परम्परा प्रारम्भ की। यही परम्परा आगे चलकर कुटियाडम् के नाम से प्रचलित हुई।

भवाई में भूंगल की भाँति इसमें सर्वप्रथम मृदंगवादन होता है। मृदंगवादन के पश्चात् नान्दी श्लोक पड़ता है और तब रंगमंच पर स्वच्छ पानी छिड़का जाता है। पानी छिड़कने के बाद सूत्रधार अपनी विशिष्ट भंगिमा में नृत्य करता हुआ रंगस्थली पर आकर पद-पाठ करता है। इसके बाद मुख्य विदूषक की स्थापना के अन्तर्गत मुख्य-मुख्य पात्रों का परिचय दिया जाता है। परिचय पूर्ण होने पर विदूषक का वर्णन करते हुए विनोद, वंचना, अशन और राज्य सेवा को पुरुषार्थ घोषित करता है और तब मुख्य नाटक का शुभारम्भ होता है।

नाटक में विदूषक बड़ा महत्त्वपूर्ण रोल अदा करता है। यह प्रायः नायक के साथ रहता है। नायक जो संवाद संस्कृत में बोलता है, विदूषक उसका मलयालम में छाया अनुवाद करता है। सज्जा की दृष्टि से भी विदूषक बड़ा कलात्मक तथा



भव्य रूप लिए होता है। उसका मुख, बदन और भुजाएँ चावल के आटे से रंगी हुई होती हैं। मस्तक, नाक, तथा गाल पर लाल रंग लगा दिया जाता है और आँखें ठेठ कानों तक गहरे काजल से अंजी हुई होती हैं। उसकी एक ऊपर उठी हुई तथा दूसरी नीचे झुकी हुई मूँछ दर्शकों में बड़ा विनोद उत्पन्न करती है। इसमें पुरुष कलाकार चक्कीयार तथा स्त्री कलाकार नंगियार जाति के होते हैं। इस नाट्य में सुभद्रा धनंजयम् का अभिनय बहु प्रशंसित बना है। यह मुख्यतः मन्दिर-नाट्य है।

कुटियाट्टम् की ही भाँति केरल के मन्दिरों में प्रचलित एक और नाट्य विधा है जो कुत्तू के नाम से जानी जाती है। कुत्तू का अर्थ नृत्य से है। एक पात्री अभिनय की दृष्टि से यह नाट्य मनोरंजन का सशक्त माध्यम बना हुआ है। इसके अभिनेता चाक्यार नामक नट होते हैं जो चम्पू तथा भाण की शैली में बड़ी खूबी के साथ अपने में अनेक पात्रों का अभिनय उतारते हैं।

विथिनाटकम् - 'विथिनाटकम्' या 'विथिभागवतम्' तेलुगु का लोकनाट्य है। 'विथिनाटकम्' का शाब्दिक अर्थ है वह नाटक जो मार्ग में प्रदर्शित किया जा सके। इस नाटक में एक या दो ही पात्र रंगमंच पर आते हैं। स्त्रियाँ सामूहिक रूप से नृत्य करती हैं। नृत्य और अभिनय के द्वारा कृष्णलीला को 'विथिनाटकम्' का विषय बनाया गया है। इस प्रकार भारत के विभिन्न राज्यों में लोकनाट्य प्रचलित हैं जो बड़े ही लोकप्रिय हैं।

पश्चिम भारत के प्रमुख लोकनाट्य

तमाशा - तमाशा महाराष्ट्र का प्रसिद्ध नाट्यरूप है। कर्नाटक प्रदेश का यक्षगान जितना दरबारी है, महाराष्ट्र का तमाशा उतना ही देहाती है। यों इसने भी कभी पेशवाओं के दरबार में सम्मान पाया था, लेकिन कुल मिलाकर ऊँची जातियों

और तबकों के लोग हमेशा इसके विरोधी रहे। यह बात अलग है कि राम जोशी (अठारहवीं शताब्दी) और पट्टे बापूराव (बीसवीं शताब्दी) जैसे कई संभ्रान्त और सुशिक्षित लोगों ने समाज का विरोध मोल लेकर इस विधा को अपनाया और आगे बढ़ाया। पट्टे बापूराव की ही प्रेरणा से तमाशा में स्त्री पात्रों की भूमिका के लिए अभिनेत्रियों की प्रतिष्ठा हो सकी। इससे तमाशा का शृंगारिक और कामोत्तेजक पक्ष और प्रबल हुआ। शहरों में तमाशा रंगशाला के भीतर भले ही खेला जाता है, देहात में वह आज भी एक नीचे और खुले मंच पर प्रस्तुत किया जाता है जिसके तीन ओर दर्शक पालथी मार कर बैठते हैं।

शुरु में ढोलकी और हल्गी (ढप) की कडड धम्म से समा बाँधा जाता है। दोनों वादक सवालिया और जवाबी टुकड़े पेश करते हैं फिर मंजीरेवाला और तुनतुनिया (इकतारा) वाला भी इस बराबरी में शामिल हो जाते हैं। कोरस के रूप में, सूत्रधार के रूप में और पात्रों की तरफ से गाना इन वादकों का काम होता है। हर टेक को जी जी जी के साथ समाप्त करने की इनकी अदा पंजाबी लोकगायकों की कोई ना, कोई ना, की तरह देश-भर में मशहूर है। कार्यक्रम गणेश के आह्वान के साथ शुरु होता है। फिर ग्वालन आती है और नाच दिखाती है। मंच की परिक्रमा करते हुए वादकों और मुख्य गायक से ग्वालन की छेड़छाड़ चलती है। फिर विदूषक महोदय कृष्ण बन जाते हैं और वादकों से तथा ग्वालन से दो-दो मतलब रखने वाली नोक-झोंक करते हैं। दर्शकों को असली मतलब समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती।

इसके तुरंत बाद सवाल-जवाब की लावणी होती है, जिसमें शिव-पार्वती का झगड़ा दिखाया जाता है। भौंडे प्रहसन से बात फौरन गहन दार्शनिकता



में पहुँच जाती है। इसके बाद हास्यपरिहासपूर्ण रंगबाजी चलती है, जिसमें लावणी गायन के बीच-बीच अभिनेता और अभिनेत्रियाँ शृंगार प्रधान प्रहसन प्रस्तुत करने में मस्त रहते हैं।

रंगबाजी समाप्त होने पर वाग यानी मुख्य नाटक शुरू होता है। इसमें भी लावणी का ही बोलबाला रहता है। गद्य संवाद गौण माने गए हैं। शुरू में तो पहले से तय करने और लिख लेने का भी रिवाज नहीं था। लावणी से ही कथानक आगे बढ़ता है और मुख्य नाटकीय स्थल उजागर किए जाते हैं। एक खेल में विभिन्न प्रकार की लगभग तीन दर्जन लावणियाँ रहती हैं। मुख्य गायक लावणी के ही पद की पहली पंक्ति को बकायदा गाता है, शेष हिस्सा गा-गाकर तेज-तेज बोलता है और फिर एक झटके से अन्तिम पंक्ति पर पहुँचता है और उसे विधिवत् गाता है। तुनतुनेवाला और मंजीरेवाला इस पंक्ति को टेक स्वरूप दोहराते हैं और 'जी जी जी जी' की झड़ी लगाते हैं। झटके के साथ आने वाले पद की यह अन्तिम पंक्ति कई नाटकीय बिंदु प्रस्तुत करती है। वाद्यवृन्द कभी आगे तो कभी पीछे होकर और मटक-मटक कर समों बाँधे रहते हैं। गायिकाएँ लावणी के बीच-बीच में नाचती भी जाती हैं। नाची का नाच उद्दाम और अदाकारी घोर शृंगारिक होती है। तमाशे के बारे में कई फ़िल्में बनी हैं और कुछ फ़िल्मी तर्ज के तमाशे भी उधर खेले गए हैं।

भवाई - भवाई गुजरात का सुप्रसिद्ध लोकमंच है। इसके आदि प्रवर्तक असाइत ठाकुर कहे जाते हैं। ये उंझा गाँव के हेमाला पटेल के पुरोहित थे। यह बात लगभग पाँच सौ वर्ष पुरानी है। भवाई खेल वेश कहलाते हैं। ये मनोरंजन प्रधान होते हैं, जिनमें हास्य का उत्कर्ष छटका हुआ मिलता है। ये वेश तरगाणा जाति के लोग करते हैं। ये लोग

अपनी कला में बड़े प्रवीण एवं पहुँचे हुए होते हैं। समसामयिक जीवन की किसी भी घटना, व्यवहार और प्रसंग को लेकर अपनी प्रत्युत्पन्न मति द्वारा उसे व्यंग्य एवं विनोद के रूप में बड़ी ही रोचक शैली में प्रस्तुत कर सामाजिक कुरीतियों, पाखण्डों तथा दुराचारों का भण्डाफोड़ करने में ये लोग कमाल हासिल करते हैं। इनके प्रत्येक वेश में नृत्य की प्रधानता तथा संवाद की क्षिप्रता रहती है। विदूषक के रूप में रंगलो की भूमिका विशेष महत्त्व लिए होती है, जो वादी तथा प्रतिवादी पात्र के सवाल-जवाब में अपनी पैनी सूझ-बूझ से अभिनय को उत्कर्ष देता है। यही रंगलो राजस्थानी भवाई में कुटकड़िया कहलाता है। यह अपनी कुटकड़ई के लिए भवाई का नाक बना हुआ रहता है।

कोई भी खुला स्थान भवाई मंच बना लिया जाता है। सर्वप्रथम माता की उपासना की जाती है। तदनन्तर गणपति वेश प्रस्तुत किया जाता है। गणपति वेश के पश्चात् नाना प्रकार के वेश लाए जाते हैं। भवाई में स्त्रियों की भूमिका भी पुरुष ही निभाते हैं। ये पुरुष काँचलिया कहलाते हैं। काँचलिया नाम सम्भवतः काँचली धारण करने से पड़ा। जयशंकर भोजक सुन्दरी, मूलचन्द वल्लभ, लालूभाई, प्राणसुख नायक आदि ने काँचलिया कलाकारों के रूप में उल्लेखनीय नाम कमाया। सारंगी, नफीरी, नगाड़े, ढोल तथा मंजीरे प्रमुख वाद्य हैं। राजस्थानी तथा गुजराती भवाई कई बातों में अधिक मिलते-जुलते हैं।

निष्कर्ष

समग्रतः भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से यह तो सुविदित ही है कि हमारे देश की नाट्यकला बहुत प्राचीन और समृद्ध रही है। लोकधर्मी नाट्यकला का इतिहास इससे भी बहुत पहले का है। विविध उत्सवों, अनुष्ठानों, मेलों-ठेलों, वार-त्यौहारों तथा



धार्मिक-संस्कारों पर लोकजीवन अपने बहुरंगे उल्लास में उमड़ पड़ता है और नृत्य की अदायगियों एवं संगीत की स्वर लहरियों में भाव विह्वल हो अपने समग्र जीवन की सुखान्त शाश्वतता को साकार हुआ देखता है। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ और मनोविनोद के साधन स्थायित्व ग्रहण करने लगे तो विविध भाव-भंगिमाओं ने उन्हें एक नई भूमिका दी जो आगे जाकर लोकनाट्य के रूप में विकसित हुई। अतः भारत में परम्पराशीलनाट्य (लोकनाट्य) की विविध शैलियाँ विभिन्न कलारूपों के माध्यम से एक नया इतिहास उपस्थित करती हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1 डॉ. उषा वर्मा, लोकरंग : बिहार, डी.एस.बुक्स डिस्ट्रीब्यूटर, पटना, 2014
- 2 गोविन्द चातक, रंगमंच : कला और सृष्टि तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
- 3 जगदीशचन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, 2006
- 4 भारतीय लोकनाट्य, डॉ. महेन्द्र भानावत, आर्यावर्त संस्कृति संस्थान, दिल्ली, प्रथम सं. 2014
- 5 मालवा का लोकनाट्य माच और अन्य विधाएँ (संपा.) डॉ.शैलेन्द्रकुमार शर्मा, अंकुर मंच, उज्जैन, प्रथम सं. 2008
- 6 डॉ. विश्वनाथ मिश्र, भारतीय और पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्त, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर नई दिल्ली, 2003
- 7 संतोष चौबे, रंग संवाद (पत्रिका), वनमाली सृजन पीठ, भोपाल, अप्रैल-जून 2001
- 8 सीताराम, 'श्याम' झा, नाटक और रंगमंच, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 2000
- 9 हिन्दी नाटक और रंगमंच (ब्रेख्त का प्रभाव), डॉ. सुरेश वशिष्ठ, प्रेम प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली, प्रथम सं. 1995